३

हर दिन पावन

(भाग तीन - मार्च)



कुमार

अनुक्रमणिका

हर दिन पावन

भाग– तीन (मार्च)

☆

लेखक
विजय कुमार

प्रकाशक :
लोकहित प्रकाशन
'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,
लखनऊ – २२६००४

प्रथम संस्करण
श्रीराम नवमी
सम्वत्– २०६५
युगाब्द– ५११०
१४ अप्रैल, २००८

I.S.B.N. : 978-81-89606-28-2

मूल्य : रु. २०.००

मुद्रक :
नूतन आफसेट मुद्रण केन्द्र
'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,
लखनऊ – २२६००४

१ मार्च बलिदान-दिवस

क्रान्तिवीर गोपीमोहन साहा

पुलिस अधिकारी टेगार्ट ने अपनी रणनीति से बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन को भारी नुकसान पहुँचाया। प्रमुख क्रान्तिकारी या तो फाँसी पर चढ़ा दिये गये थे या जेलों में सड़ रहे थे। उनमें से कई को तो कालेपानी भेज दिया गया था। ऐसे समय में भी बंगाल की वीरभूमि पर गोपीमोहन साहा नामक एक क्रान्तिवीर का जन्म हुआ, जिसने टेगार्ट से बदला लेने का प्रयास किया। यद्यपि दुर्भाग्यवश उसका यह प्रयास सफल नहीं हो पाया।

टेगार्ट को यमलोक भेजने का निश्चय करते ही गोपीमोहन ने निशाना लगाने का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। वह चाहता था कि उसकी एक गोली में ही उसका काम तमाम हो जाये। उसने टेगार्ट को कई बार देखा, जिससे मारते समय किसी प्रकार का भ्रम न हो। अब वह मौके की तलाश में रहने लगा।

दो जनवरी, १९२४ को प्रात: सात बजे का समय था। सर्दी के कारण कोलकाता में भीषण कोहरा था। दूर से किसी को पहचानना कठिन था। ऐसे में भी गोपीमोहन अपनी धुन में टेगार्ट की तलाश में घूम रहा था। चौरंगी रोड और पार्क स्ट्रीट के चौराहे के पास उसने बिल्कुल टेगार्ट जैसा एक आदमी देखा। उसे लगा कि इतने समय से वह जिस संकल्प को मन में सँजोये है, उसके पूरा होने का समय आ गया है।

उसने आव देखा न ताव, उस आदमी पर गोली चला दी; पर यह गोली चूक गयी। वह व्यक्ति मुड़कर गोपीमोहन की ओर झपटा। यह देखकर गोपी ने दूसरी गोली चलायी। यह गोली उस आदमी के सिर पर लगी। वह वहीं

धराशायी हो गया। गोपी ने सावधानीवश तीन गोली और चलायी और वहाँ से भाग निकला। उसने एक टैक्सी को हाथ दिया; पर टैक्सी वाला रुका नहीं। यह देखकर गोपीमोहन ने उस पर भी गोली चला दी।

गोलियों की आवाज और एक अंग्रेज को सड़क पर मरा देखकर भीड़ ने गोपीमोहन का पीछा करना शुरू कर दिया। गोपी ने फिर गोलियाँ चलायीं, इससे तीन लोग घायल हो गये; लेकिन अन्ततः वह पकड़ा गया। पकड़े जाने पर उसे पता लगा कि उसने जिस अंग्रेज को मारा है, वह टेगार्ट नहीं अपितु उसकी शक्ल से मिलता हुआ एक व्यापारिक कम्पनी का प्रतिनिधि है। इससे गोपी को बहुत दुख हुआ कि उसके हाथ से एक निरपराध की हत्या हो गयी; पर अब कुछ नहीं हो सकता था।

न्यायालय में अपना बयान देते समय उसने टेगार्ट को व्यंग्य से कहा कि आप स्वयं को सुरक्षित मान रहे हैं; पर यह न भूलें कि जो काम मैं नहीं कर सका, उसे मेरा कोई भाई शीघ्र ही पूरा करेगा। उस पर अनेक आपराधिक धाराएँ थोपीं गयीं। इस पर उसने न्यायाधीश से कहा कि कञ्जूसी क्यों करते हैं, दो–चार धाराएँ और लगा दीजिये। १६ फरवरी, १९२४ को उसे फाँसी की सजा सुना दी गयी। सजा सुनकर उसने गर्व से कहा– मेरी कामना है कि मेरे रक्त की प्रत्येक बूँद भारत के हर घर में आजादी के बीज बोये। जब तक जलियाँवाला बाग और चाँद्पुर जैसे काण्ड होंगे, तब तक हमारा संघर्ष भी चलता रहेगा। एक दिन ब्रिटिश शासन को अपने किये का फल अवश्य मिलेगा।

एक मार्च, १९२४ भारत माँ के अमर सपूत गोपीमोहन साहा ने फाँसी के फन्दे को चूम लिया। मृत्यु का कोई भय न होने के कारण उस समय तक उसका वजन दो किलो बढ़ चुका था। फाँसी के बाद उसके शव को लेने के लिए गोपी के भाई के साथ नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी जेल गये थे।

❖

२ मार्च जन्म-दिवस

राष्ट्रवादी इतिहासकार पुरुषोत्तम नागेश ओक

श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक का नाम राष्ट्रवादी इतिहासकारों में बहुत सम्मानित है। यद्यपि डिग्रीधारी इतिहासकार उन्हें मान्यता नहीं देते थे; क्योंकि उन्होंने इतिहास का विधिवत शिक्षण या अध्यापन नहीं किया था; पर उन्हें ऐसी दृष्टि प्राप्त थी, जिससे उन्होंने विश्व के इतिहास में खलबली मचा दी।

उनका जन्म २ मार्च, १९१७ को इन्दौर में श्री नागेश ओक एवं श्रीमती जानकी बाई के घर में हुआ था। तीन भाइयों में मंझले पुरुषोत्तम ओक की प्रतिभा के लक्षण बचपन से ही प्रकट होने लगे थे। उन्होंने १९३३ में मैट्रिक, १९३७ में बी.ए., १९३९ में एम.ए. तथा १९४० में कानून की परीक्षा मुम्बई विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की।

१९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने पर श्री ओक खड़की स्थित सैन्य प्रतिष्ठान में भर्ती हो गये। वहाँ आठ मास के प्रशिक्षण के बाद उन्हें सिंगापुर भेज दिया गया। वहाँ वे जापानियों द्वारा बन्दी बना लिये गये; पर जब भारतीय सैनिकों ने जापान का सहयोग करने का निश्चय किया, तो सभी ६०,००० बन्दियों को छोड़ दिया गया। श्री ओक सेगांव (वियतनाम) रेडियो से भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रचार करते रहे। आगे चलकर वे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के निकट सहयोगी बन गये।

स्वतन्त्रता के बाद श्री ओक पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे। १९४७ से १९५३

तक वे हिन्दुस्तान टाइम्स एवं स्टेट्समैन के दिल्ली में संवाददाता रहे। १९५४ से १९५७ तक उन्होंने सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय में प्रचार अधिकारी के नाते कार्य किया। फिर १९५९ से १९७४ तक दिल्ली स्थित अमरीकी दूतावास की सूचना सेवा में उप सम्पादक का काम सँभाला। इन सब कामों के बीच श्री ओक अपनी रुचि के अनुकूल इतिहास विषयक लेखन करते रहे।

श्री ओक का मंत था कि भारत में जिन भवनों को मुगलकालीन निर्माण बताते हैं, वह सब भारतीय हिन्दू शासकों द्वारा निर्मित हैं। मुस्लिम शासकों ने उन पर कब्जा किया और कुछ फेरबदल कर उसे अपने नाम से प्रचारित कर दिया। स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार ने भी सच को सदा दबा कर रखा; पर श्री ओक ने ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये, जिन्हें आज तक कोई काट नहीं सका है।

श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक ने दो पुस्तकें मराठी में लिखीं। 'हिन्दुस्थानाचे दुसरे स्वातन्त्र्य युद्ध' तथा 'नेताजीच्या सहवासाल'। हिन्दी में उनकी पुस्तकें हैं : भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें; विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय; कौन कहता है अकबर महान था; दिल्ली का लाल किला हिन्दू कोट है; लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू राजमहल हैं; फतेहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर; आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है; भारत में मुस्लिम सुल्तान (भाग १ व २); वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास (४ भाग); ताजमहल मंदिर भवन है; ताजमहल तेजो महालय शिव मन्दिर है; ग्रेट ब्रिटेन हिन्दू देश था; आंग्ल भाषा (शब्दकोश) हास्यास्पद है; क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है। इनमें ताजमहल का सच उजागर करने वाली किताबें सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं।

इतिहास श्री ओक का प्रिय विषय था। सरकारी सेवा से अवकाश लेने के बाद उन्होंने 'इन्स्टीट्यूट फॉर रिराइटिंग वर्ल्ड हिस्ट्री' नामक संस्था की स्थापना की और उसके द्वारा नये शोध सामने लाते रहे। उनके निष्कर्ष थे कि ईसा से पूर्व सारी दुनिया में वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा का ही चलन था। ४ दिसम्बर, २००७ को पुणे में उनका देहान्त हुआ।

४ मार्च पुण्य-तिथि

सैनिक शिक्षा के पुरोधा धर्मवीर डा० मुञ्जे

स्वतत्रता सेनानी डा० बालकृष्ण शिवराम मुञ्जे भारत के प्रत्येक युवक को सैनिक शिक्षा देने के प्रबल समर्थक थे। उनका जन्म १२ दिसम्बर, १८७२ को बिलासपुर, मध्य प्रदेश में हुआ था। कुश्ती, व्यायाम एवं घुड़सवारी के शौक़ीन होने के कारण इनका शरीर बचपन से ही बहुत पुष्ट था। इनके पिता इन्हें वकील बनाना चाहते थे; पर इन्होंने मुम्बई के मैडिकल कॉलिज में प्रवेश लिया और चिकित्सक बन गये। इन्हें वहीं सरकारी नौकरी भी मिल गयी।

मुम्बई में इनका सम्पर्क लोकमान्य तिलक से हुआ। इससे इनके जीवन को नयी दिशा मिली। एक बार ये चिकित्सक दल के साथ अफ्रीका गये। वहाँ इनकी भेंट गान्धी जी से हुई। वहाँ से लौटकर ये बिलासपुर में निजी नेत्र चिकित्सक के रूप में काम करने लगे।

पर देश और हिन्दू समाज की दुर्दशा देखकर ये राजनीति में उतर गये। ये कांग्रेस में तिलक जी के समर्थक थे। इन्हें गान्धी जी की अहिंसा और मुस्लिम चाटुकारिता पसन्द नहीं थी। जब गान्धी जी ने खिलाफत आन्दोलन को समर्थन दिया, तो इन्होंने उसका विरोध किया। वे इसे 'खिला–खिलाकर आफत खड़ी करना' बताते थे। फिर भी कांग्रेस के एक अनुशासित सिपाही की भाँति इन्होंने जंगल सत्याग्रह एवं नमक सत्याग्रह में भाग लिया। हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के नाते ये दो बार लन्दन के गोलमेज सम्मेलन में गये। वे मुस्लिम लीग की

देशद्रोही चालों को खूब समझते थे। वहाँ उन्होंने बंगाल, पंजाब और सिन्ध को मुस्लिम बहुल घोषित करने का विरोध किया; पर उनकी बात नहीं मानी गयी।

डा० मुञ्जे छात्रों को सैनिक शिक्षा देने के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने नागपुर में एक राइफल क्लब की स्थापना भी की। इटली प्रवास में उन्होंने संग्रहालय के बदले वहाँ का सैनिक विद्यालय देखना पसन्द किया। मालवीय जी से भेंट में उन्होंने इस बात पर आपत्ति की, कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सैन्य विभाग नहीं खोला गया है। अब वे स्वयं इस दिशा में प्रयास करने लगे।

सैनिक विद्यालय की भूमि हेतु वे मुम्बई के गवर्नर से मिले; पर उसने कोई सहयोग नहीं दिया। वह समझ गया कि इसमें अंग्रेजों के विरोधी सैनिक ही निर्माण होंगे। कुछ समय बाद उन्हें नासिक में स्थान मिल गया। अनेक लोगों ने आर्थिक सहयोग भी दिया। इस प्रकार 'भोंसला सैनिक विद्यालय' की स्थापना हुई। डा० मुञ्जे भगवान् राम को अपना एवं भारत का आदर्श मानते थे। अत: विद्यालय की भूमि को 'रामभूमि' और छात्रों को 'रामदण्डी' कहा जाता था। इसमें सामान्य शिक्षा के साथ घुड़सवारी और तैराकी से लेकर सैनिकों के लिए अनिवार्य सभी विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

डा० मुञ्जे आजीवन हिन्दू हित के लिए समर्पित रहे। इसीलिए इन्हें 'धर्मवीर' की उपाधि दी गयी। केरल में मोपलाओं द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के बाद उन्होंने परावर्तन के काम में अनेक लोगों को सक्रिय किया। इससे हजारों लोग फिर से हिन्दू धर्म में लौट आये। शुद्धि एवं परावर्तन हेतु बलिदान हुए स्वामी श्रद्धानन्द की स्मृति में उन्होंने नागपुर में अनाथालय की स्थापना की।

धर्मवीर डा० बालकृष्ण शिवराम मुञ्जे का देहान्त ४ मार्च, १९४८ को हुआ। १९७२ में उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर नागपुर में उनकी पूर्णाकार प्रतिमा का अनावरण फील्ड मार्शल जनरल करियप्पा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी ने किया।

❖

४ मार्च पुण्य-तिथि

क्रान्तिकारी की मानव कवच तोसिको बोस

तोसिको बोस का नाम भारतीय क्रान्तिकारी इतिहास में अल्पज्ञात है। अपनी जन्मभूमि जापान में वे केवल २८ वर्ष तक ही जीवित रहीं। फिर भी सावित्री तुल्य इस सती नारी का भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को आगे बढ़ाने में अनुपम योगदान रहा।

रासबिहारी बोस महान् क्रान्तिकारी थे। २३ दिसम्बर, १९१२ को तत्कालीन वायसराय के जुलूस पर बम फेंक कर उसे यमलोक पहुँचाने का प्रयास तो हुआ; पर वह पूर्णतः सफल नहीं हो पाया। उस योजना में रासबिहारी बोस की बड़ी भूमिका थी। अतः अंग्रेज शासन ने उन्हें गिरफ्तार करने के लिए दूर—दूर तक जाल बिछा दिया। उन्हें पकड़वाने वाले के लिए एक लाख रु० का पुरस्कार भी घोषित किया गया। यदि वे पकड़े जाते, तो मृत्युदण्ड मिलना निश्चित था। अतः सब साथियों के परामर्श से वे १९१५ के मई मास में नाम और वेष बदलकर जापान चले गये।

उन दिनों जापान और ब्रिटेन में एक सन्धि थी, जिसके अन्तर्गत भारत का कोई अपराधी यदि जापान में छिपा हो, तो उसे लाकर भारत में मुकदमा चलाया जा सकता है; पर यदि वह जापान का नागरिक है, तो उसे नहीं लाया जा सकता था। एक अन्य कानून के अनुसार पति—पत्नी में से कोई एक यदि जापानी है, तो दूसरे को स्वतः नागरिकता मिल जाती थी। इसलिए रासबिहारी के मित्रों ने

विचार किया कि यदि उनका विवाह किसी जापानी कन्या से करा दिया जाये, तो प्रत्यार्पण का यह संकट टल जाएगा।

रासबिहारी बोस के एक जापानी मित्र आइजो सोमा और उनकी पत्नी कोक्को सोमा ने उन्हें अपने होटल से लगे घर में छिपाकर रखा। इस दौरान उनका परिचय सोमा दम्पति की २० वर्षीय बेटी तोसिको से हुआ। उसे जब भारतीयों पर ब्रिटिश शासन द्वारा किये जा रहे अत्याचारों का पता लगा, तो उसका हृदय आन्दोलित हो उठा। रासबिहारी ने उसे क्रान्तिकारियों द्वारा जान पर खेलकर किये जा रहे कार्यों की जानकारी दी। इससे उसके मन में आजादी के इन दीवानों के प्रति प्रेम जाग्रत हो गया। अन्ततः उसने स्वयं ही रासबिहारी बोस से विवाह कर उनकी मानव कवच बनने का निर्णय ले लिया। इतना ही नहीं, उसने अज्ञातवास में भी रासबिहारी का साथ देने का वचन दिया।

तोसिको के माता–पिता के लिए यह निर्णय स्तब्धकारी था, फिर भी उन्होंने बेटी की इच्छा का सम्मान किया। नौ जुलाई, १९१८ को रासबिहारी बोस एवं तोसिको का विवाह गुपचुप रूप से सम्पन्न हो गया। इससे रासबिहारी को जापान की नागरिकता मिल गयी। अब वे खुलकर काम कर सकते थे। उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर दक्षिण पूर्व एशिया में रह रहे भारतीयों को संगठित किया और वहाँ से साधन जुटाकर भारत में क्रान्तिकारियों के पास भेजे। उन्होंने आसन्न द्वितीय विश्व युद्ध के वातावरण का लाभ उठाकर आजाद हिन्द फौज के गठन में बड़ी भूमिका निभायी।

दो जुलाई, १९२३ को रासबिहारी को जापान में रहते हुए सात वर्ष पूरे हो गये। इससे उन्हें स्वतन्त्र रूप से वहाँ की नागरिकता मिल गयी; पर इस गुप्त और अज्ञातवास के कष्टपूर्ण जीवन ने तोसिको को तपेदिक (टी.बी.) का रोगी बना दिया। उन दिनों यह असाध्य रोग था। तोसिको मुक्त वातावरण में दो साल भी पति के साथ ठीक से नहीं बिता सकी। चार मार्च, १९२५ को मात्र २८ वर्ष की अल्पायु में वे इस संसार से विदा हो गयीं।

❖

६ मार्च बलिदान-दिवस

धर्मवीर : पण्डित लेखराम

हिन्दू धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा रखकर धर्म प्रचार में अपना जीवन समर्पण करने वाले धर्मवीर पण्डित लेखराम का जन्म अविभाजित भारत के पंजाब प्रान्त के झेलम जिले के सैयदपुर गाँव में मेहता तारासिंह के घर में १८५८ ई० में हुआ था। बाल्यकाल में उनका अध्ययन उर्दू एवं फारसी में हुआ; क्योंकि उस समय राजकाज एवं शिक्षा की भाषा यही थी। १७ वर्ष की अवस्था में वे पुलिस में भर्ती हो गये; पर कुछ समय बाद उनका झुकाव आर्य समाज की ओर हो गया। वे एक माह का अवकाश लेकर ऋषि दयानन्द जी से मिलने अजमेर चले गये। वहाँ उनकी सभी जिज्ञासाएँ शान्त हुईं। लौटकर उन्होंने पेशावर में आर्य समाज की स्थापना की और धर्म–प्रचार में लग गये।

पण्डित लेखराम ने 'धर्मोपदेश' नामक एक उर्दू मासिक पत्र निकाला। उच्च कोटि की सामग्री के कारण कुछ समय में ही वह प्रसिद्ध हो गया। उन दिनों पंजाब में अहमदिया नामक एक नया मुस्लिम सम्प्रदाय फैल रहा था। इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद स्वयं को पैगम्बर बताते थे। पण्डित लेखराम ने अपने पत्र में इनकी वास्तविकता जनता के सम्मुख रखी। इस बारे में उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखीं। इससे मुसलमान उनके विरुद्ध हो गये।

महर्षि दयानन्द जी के देहान्त के बाद पण्डित लेखराम को लगा कि सरकारी नौकरी और धर्म प्रचार साथ–साथ नहीं चल सकता। अत: उन्होंने नौकरी छोड़ दी। जब पंजाब में आर्य प्रतिनिधि सभा का गठन हुआ, तो वे उसके उपदेशक बन गये। इस नाते उन्हें अनेक स्थानों पर प्रवास करने तथा पूरे पंजाब

को अपने शिकञ्जे में जकड़ रहे इस्लाम को समझने का अवसर मिला।

लेखराम जी एक श्रेष्ठ लेखक थे। आर्य प्रतिनिधि सभा ने ऋषि दयानन्द के जीवन पर एक विस्तृत एवं प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार करने की योजना बनायी। यह दायित्व उन्हें ही दिया गया। उन्होंने देश भर में भ्रमण कर अनेक भाषाओं में प्रकाशित सामग्री एकत्रित की। इसके बाद वे लाहौर में बैठकर इस ग्रन्थ को लिखना चाहते थे; पर दुर्भाग्यवश यह कार्य पूरा नहीं हो सका।

पण्डित लेखराम की यह विशेषता थी कि जहाँ उनकी आवश्यकता लोग अनुभव करते, वे कठिनाई की चिन्ता किये बिना वहाँ पहुँच जाते थे। एक बार उन्हें पता लगा कि पटियाला जिले के पायल गाँव का एक व्यक्ति हिन्दू धर्म छोड़ रहा है। वे तुरन्त रेल में बैठकर उधर चल दिये; पर जिस गाड़ी में वह बैठे, वह पायल नहीं रुकती थी। इसलिए जैसे ही पायल स्टेशन आया, लेखराम जी गाड़ी से कूद पड़े। उन्हें बहुत चोट आयी। जब उस व्यक्ति ने पण्डित लेखराम ज़ी का यह समर्पण देखा, तो उसने धर्मत्याग का विचार ही त्याग दिया।

उनके इन कार्यों से मुसलमान बहुत नाराज हो रहे थे। छह मार्च, १८९७ की एक शाम जब वे लाहौर में लेखन से निवृत्त होक़र उठे, तो एक मुसलमान ने उन्हें छुरे से बुरी तरह घायल कर दिया। उन्हें तुरन्त अस्पताल पहुँचाया गया; पर उन्हें बचाया नहीं जा सका। मृत्यु से पूर्व उन्होंने कार्यकर्त्ताओं को सन्देश दिया कि आर्य समाज में तहरीर (लेखन) और तकरीर (प्रवचन) का काम बन्द नहीं होना चाहिए। धर्म और सत्य के लिए बलिदान होने वाले पण्डित लेखराम जैसे महापुरुष मानवता के प्रकाश स्तम्भ हैं।

❖

८ मार्च | जन्म-दिवस

महान् विट्ठलभक्त : सन्त तुकाराम

भारत के महान् सन्तों में सन्त तुकाराम का विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म ८ मार्च, १६०८ को पुणे में हुआ था। उनके पिता श्री वोल्होबा तथा माता कनकाई बहुत सात्विक प्रवृत्ति के दम्पति थे। अत: तुकाराम को बालपन से ही विठ्ठल भक्ति संस्कारों में प्राप्त हुई। उनके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। फिर भी सन्तोषी स्वभाव के तुकाराम कभी विचलित नहीं हुए। आगे चलकर उनके माता–पिता और फिर पत्नी तथा पुत्र की भी मृत्यु हो गयी; पर तुकाराम ने प्रभु भक्ति से मुँह नहीं मोड़ा।

तुकाराम स्वभाव से ही विरक्त प्रवृत्ति के थे। वे प्राय: भामगिरी तथा भण्डार की पहाड़ियों पर जाकर एकान्त में बैठ जाते थे। वे वहाँ ज्ञानेश्वरी तथा एकनाथी भागवत का अध्ययन भी करते थे। कीर्तन तथा सत्संग में उनका बहुत मन लगता था। जब वे नौ वर्ष के ही थे, तब उन्हें स्वप्न में एक तेजस्वी सन्त ने दर्शन देकर 'रामकृष्ण हरि' मन्त्र का उपदेश दिया। इससे उनका जीवन बदल गया और वे दिन–रात प्रभु के ध्यान में डूबे रहने लगे।

एक बार प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने तुकाराम जी को स्वप्न में दर्शन देकर भजन लिखने को कहा। इससे पूर्व तुकाराम ने कभी कविता नहीं की थी; पर सन्त नामदेव के आशीर्वाद से उनके मन में काव्यधारा फूट पड़ी। उन्होंने जो रचनाएँ कीं, उन्हें 'अभंग' कहा जाता है। ऐसे लगभग ६,००० अभंगों की रचना उन्होंने की। इससे उनकी कीर्ति चारों और फैल गयी। लोग दूर–दूर से उनके दर्शन के लिए आने लगे। उनके आश्रम में हर दिन मेला लगने लगा।

उनकी इस प्रसिद्धि से रामेश्वर भट्ट तथा मुम्बाजी जैसे कुछ लोग जलने लगे। वे तुकाराम को शारीरिक और मानसिक रूप से परेशान करने लगे। एक बार तो उनके अभंग संग्रह को ही उन्होंने इन्द्रायणी नदी में डुबो दिया। तुकाराम को इससे अपार कष्ट हुआ। वे मन्दिर में भगवान् की मूर्त्ति के सम्मुख बैठ गये। उन्होंने निश्चय कर लिया कि जब तक उनकी बहियाँ वापस नहीं मिल जातीं, तब तक वे अन्न–जल ग्रहण नहीं करेंगे।

लेकिन १३ दिन ऐसे ही बीत गये। इस पर तुकाराम ने भावावेश में आकर भगवान को बहुत उलाहना दिया। उन्होंने कहा कि हे नाथ, आप तो मूर्त्ति के पीछे छिपे हो और यहाँ मैं भूखा–प्यासा बैठा हूँ। अब भी यदि आपने मेरी इच्छा पूरी नहीं की, तो मैं आत्महत्या कर लूँगा और इसका पूरा दोष आपका ही होगा। ऐसा कहते हैं कि भगवान् ने उसी समय युवक वेश में प्रकट होकर सन्त तुकाराम की सभी पुस्तकें सुरक्षित लौटा दीं। यह देखकर उन सबकी आँखें खुल गयीं, जो उन्हें परेशान कर रहे थे। अब वे भी तुकाराम जी की शरण में आ गये और उनके भक्त बन गये।

ऐसा कहते हैं कि एक बार शिवाजी महाराज सन्त तुकाराम के पास बैठे थे कि मुगलों ने उनके आश्रम को घेर लिया। तुकाराम की प्रार्थना पर वहाँ शंकर भगवान् प्रकट हुए और वे शिवाजी का छद्म रूप लेकर एक ओर भागने लगे। इस पर मुगल सैनिक उनके पीछे दौड़ पड़े और असली शिवाजी को कुछ नहीं हुआ। इससे प्रभावित होकर शिवाजी ने सन्त तुकाराम को कुछ स्वर्ण मुद्राएँ भेंट कीं; पर तुकाराम जी ने उन्हें यह कहकर लेने से मना कर दिया कि मेरे लिए सोना और मिट्टी बराबर है।

अपने अभंगों द्वारा भगवद्भक्ति का सन्देश बाँटते हुए सन्त तुकाराम १६५० ई० में सदा–सदा के लिए विट्ठल के धाम को चले गये।

६ मार्च पुण्य-तिथि

नारी संगठन को समर्पित सरस्वती ताई आप्टे

१९२५ में हिन्दू संगठन के लिए डा० हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य प्रारम्भ किया। संघ की शाखा में पुरुष वर्ग के लोग ही आते थे। उन स्वयंसेवक परिवारों की महिलाएँ एवं लड़कियाँ डा० हेडगेवार जी से कहती थीं कि हिन्दू संगठन के लिए नारी वर्ग का भी योगदान लिया जाना चाहिए।

डा० हेडगेवार भी यह चाहते तो थे; पर शाखा में लड़के एवं लड़कियाँ एक साथ खेलें, यह उन्हें व्यावहारिक नहीं लगता था। इसलिए वे चाहते थे कि यदि कोई महिला आगे बढ़कर नारी वर्ग के लिए अलग संगठन चलाये, तभी ठीक होगा। उनकी इच्छा पूरी हुई और १९३६ में श्रीमती लक्ष्मीबाई केलकर (मौसी जी) ने 'राष्ट्र सेविका समिति' के नाम से अलग संगठन बनाया।

इस संगठन की कार्यप्रणाली लगभग संघ जैसी ही थी। आगे चलकर श्रीमती लक्ष्मीबाई केलकर समिति की प्रमुख सञ्चालिका बनीं। १९३८ में पहली बार ताई आप्टे की भेंट श्रीमती केलकर से हुई थी। इस भेंट में दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। मौसी जी से मिलकर ताई आप्टे के जीवन का लक्ष्य निश्चित हो गया। दोनों ने मिलकर राष्ट्र सेविका समिति के काम को व्यापकता एवं एक मजबूत आधार प्रदान किया।

अगले ४–५ साल में ही महाराष्ट्र के प्राय: प्रत्येक जिले में समिति की शाखा खुल गयी। १९४५ में समिति का पहला राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। ताई

आप्टे की सादगी, संगठन क्षमता, कार्यशैली एवं वक्तृत्व कौशल को देखकर मौसी जी ने इस सम्मेलन में उन्हें प्रमुख कार्यवाहिका की जिम्मेदारी दी। जब तक शरीर में शक्ति रही, ताई आप्टे ने इसे भरपूर निभाया।

उन दिनों देश की स्थिति बहुत खतरनाक थी। कांग्रेस के नेता विभाजन के लिए मन बना चुके थे। वे जैसे भी हो सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। देश में हर ओर मुस्लिम आतंक का नंगा खेल हो रहा था। इनकी शिकार प्राय: हिन्दू युवतियाँ ही होती थीं। देश का पूर्वी एवं पश्चिमी भाग इनसे सर्वाधिक प्रभावित था। आगे चलकर यही भाग पश्चिमी एवं पूर्वी पाकिस्तान बना।

आजादी एवं विभाजन की वेला से कुछ समय पूर्व सिन्ध के हैदराबाद नगर से एक सेविका जेठी देवानी का मार्मिक पत्र मौसी जी को मिला। वह इस कठिन परिस्थिति में उनसे सहयोग चाहती थी। वह समय बहुत खतरनाक था। महिलाओं के लिए प्रवास करना बहुत ही कठिन था; पर सेविका की पुकार पर मौसी जी चुप न रह सकीं। वे सारा कार्य ताई आप्टे को सौंपकर चल दीं। वहाँ उन्होंने सेविकाओं को अन्तिम समय तक डटे रहने और किसी भी कीमत पर अपने सतीत्व की रक्षा का सन्देश दिया।

१९४८ में गान्धी जी की हत्या के झूठे आरोप में संघ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। हजारों कार्यकर्त्ता जेलों में ठूँस दिये गये। ऐसे में उन परिवारों में महिलाओं को धैर्य बँधाने का काम राष्ट्र सेविका समिति ने किया। १९६२ में चीन के आक्रमण के समय समिति ने घर–घर जाकर पैसा एकत्र किया और उसे रक्षा मन्त्री श्री चह्वाण को भेंट किया। १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय अनेक रेल स्टेशनों पर फौजी जवानों के लिए चाय एवं भोजन की व्यवस्था की।

सरस्वती ताई आप्टे इन सब कार्यों की सूत्रधार थीं। उन्होंने हजारों सेविकाओं को यह सिखाया कि गृहस्थी के साथ भी देशसेवा कैसे की जा सकती है। इसी प्रकार सक्रिय जीवन बिताते हुए नौ मार्च, १९९४ को उन्होंने प्रात: ४.३० बजे अन्तिम साँस ली।

❖

१० मार्च इतिहास–स्मृति

जब भारतीय बन्दी अन्दमान पहुँचे

अन्दमान–निकोबार या काले पानी का नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह वह स्थान है, जहाँ भारत के उन वीर स्वतन्त्रता सेनानियों को रखा जाता था, जिन्हें अंग्रेज शासन अपने लिए बहुत खतरनाक समझता था। इसी प्रकार अति गम्भीर अपराध करने वाले खूँखार अपराधियों को भी आजीवन कारावास की सजा भोगने के लिए यहीं भेजा जाता था।

घने जंगलों से आच्छादित इस क्षेत्र में शेर, चीते आदि खुलेआम घूमते थे। चारों ओर समुद्र था। नदियों और बड़े–बड़े तालाबों में घड़ियाल निर्द्वन्द्व विचरण करते थे। वनों में ऐसी जनजातियाँ रहती थीं, जो अपने विषैले तीरों से मानव को देखते ही मार देती थीं। चारों ओर भीषण डंक वाले साँप, बिच्छू घूमते रहते थे। मच्छरों का तो वहाँ मानो अखण्ड साम्राज्य था। ऐसे में कोई बन्दी जेल से भागता भी, तो उसका मरना निश्चित था। इसीलिए १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के बाद अंग्रेजों ने इस स्थान को जेल के लिए चुना।

अब समस्या थी कि इन जंगलों की सफाई कौन करेगा ? शासन ने बन्दियों से ही यह काम कराने का निर्णय किया और १० मार्च, १८५८ को स्थायी अधीक्षक डा० जे.पी. वाकर के साथ बन्दियों का पहला दल पानी के जहाज से पोर्ट ब्लेयर आ गया।

इन बन्दियों में सभी प्रकार के लोग थे। हत्या, लूट, डकैती जैसे घोर दुष्कर्म करने वाले खूँखार अपराधी तो थे ही; पर देशभक्त क्रान्तिकारी भी थे। ये स्वतन्त्रता सेनानी सुशिक्षित और अच्छे घरों के नवयुवक थे; पर वहाँ तो

सबको एक ही लाठी से हाँका जाता था। सुबह होते ही सबको कुल्हाड़ी, आरे और फावड़े देकर सफाई में लगा दिया जाता था। दोपहर में रूखा–सूखा भोजन और फिर काम। जून के मध्य तक अनेक बन्दी बीमारी से मर गये। कुछ मौका पाकर भाग भी गये, जो कभी अपने घर नहीं पहुँच सके। ८७ बन्दियों को भागने के आरोप में फाँसी दे दी गयी।

प्रारम्भ में रॉस द्वीप के जंगल को साफ किया गया। फिर चाथम और फीनिक्स में बन्दियों के निवास के लिए कच्ची बैरकें बनायी गयीं। पोर्ट मोर्ट में इन बन्दियों के रहने और उनसे खेती कराने की योजना बनायी गयी। १८६७ में पहाड़ गाँव में चौकी, अबार्डीन में थाना और वाइपर में जेल बनायी गयी। अपने घर–परिवार और जन्मभूमि से दूर रहने वाले इन बन्दियों की शारीरिक और मानसिक दशा की कल्पना की जा सकती है। फिर भी आजादी के मतवाले बन्दी झुकने को तैयार नहीं थे।

प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में भारतीय युवक इस आश्वासन पर सेना में भर्ती हुए कि युद्ध के बाद भारत को स्वतन्त्र कर दिया जाएगा। दूसरी ओर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भारत से बाहर रहकर आजादी का प्रयास कर रहे थे। आजाद हिन्द फौज के सर्वोच्च सेनापति के रूप में जब २९ दिसम्बर, १९४३ को वे अन्दमान आये, तो उनका भव्य स्वागत किया गया। पोर्ट ब्लेयर के ऐतिहासिक जिमखाना मैदान में उनका भाषण हुआ।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत की स्वतन्त्रता के बाद अन्दमान, निकोबार आदि द्वीपों में भी तिरंगा फहराया गया। सब बन्दियों को छोड़ दिया गया। काले पानी के नाम से कुख्यात वह जेल अब स्वतन्त्रता के लिए यातनाएँ सहने और तिल–तिल कर मरने वाले दीवानों का स्मारक है; पर इसके निर्माण में उन अनाम बन्दियों की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो १० मार्च, १८५८ को सबसे पहले वहाँ पहुँचे थे।

❖

११ मार्च — जन्म-दिवस

सिन्ध का क्रान्तिवीर : हेमू कालाणी

अंग्रेजों के शासनकाल में भारत का कोई प्रान्त सुरक्षित नहीं था। उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम सब ओर उनके अत्याचारों से लोग त्रस्त थे; पर जेल और फाँसी के भय से उनके विरुद्ध खड़े होने का साहस कम ही लोग दिखा पाते थे। ऐसे ही एक क्रान्तिवीर थे हेमू कालाणी, जिनका जन्म अविभाजित भारत के सिन्ध प्रान्त के सक्खर नगर में ११ मार्च १९२४ को हुआ था।

जहाँ एक ओर शासन के अत्याचार चरम पर थे, तो दूसरी ओर गान्धी जी के नेतृत्व में अहिंसक सत्याग्रह आन्दोलन भी चल रहा था। सत्याग्रहियों पर अंग्रेज पुलिस डण्डे बरसाती और गोली चलाती थी। फिर भी वे शान्त रहते थे। शासन से असहयोग और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार ही इनका एकमात्र शस्त्र था। वन्दे मातरम् और भारत माता की जय उनका प्रमुख नारा था।

दूसरी ओर एक धारा क्रान्तिकारियों की थी, जो शस्त्रों के बल पर अंग्रेजों को जबरन अपनी मातृभूमि से खदेड़ना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि हथियारों के बल पर राज करने वालों को हथियारों की ताकत से ही भगाया जा सकता है। यों तो पूरे देश में इस विचार को मानने वाले युवक थे; पर बंगाल और पंजाब इनके गढ़ थे। हेमू भी इसी विचार का समर्थक था। इन वीर क्रान्तिकारियों की कहानियाँ वह अपने मित्रों को सुनाता रहता था।

एक बार हेमू को पता लगा कि गोरे सैनिकों की एक पल्टन विशेष रेल से सक्खर की ओर से गुजरने वाली है। यह पल्टन 'भारत छोड़ो आंन्दोलन' के सत्याग्रहियों के दमन के लिए भेजी जा रही थी। हर दिन ऐसे समाचार प्रकाशित

होते ही थे। हेमू गान्धीवादी सत्याग्रह में विश्वास नहीं रखते थे। उनसे यह नहीं सहा गया कि विदेशी सैनिक भारतीयों पर अत्याचार करें।

उन्होंने अपने कुछ मित्रों को एकत्र किया। उन्होंने सोचा कि यदि हम रेल की पटरियाँ उखाड़ दें, तो रेल दुर्घटनाग्रस्त हो जाएगी। सैकड़ों अंग्रेज सैनिक मारे जायेंगे और अपने देशवासियों की रक्षा होगी। इस योजना को सुनकर कुछ साथी डर गये; पर नन्द और किशन नामक दो युवक तैयार हो गये। तीनों हथौड़े, गेंती, सब्बल आदि लेकर सक्खर की बिस्कुट फैक्ट्री के पास एकत्र हुए। रेल लाइन उसके पास में ही थी।

उस समय चाँदनी रात थी। तीनों युवक तेजी से अपने काम में जुट गये। वे मस्ती में गीत गाते हुए निर्भयतापूर्वक अपने काम में लगे थे; पर दूसरी ओर प्रशासन भी सावधान था। उसने उस रेलगाड़ी की सुरक्षा के लिए विशेष रूप से कुछ सिपाही तैनात कर रखे थे। उन सिपाहियों ने जब कुछ आवाज सुनी तो वे दौड़ पड़े और तीनों को पटरी उखाड़ते हुए रंगे हाथ पकड़ लिया।

न्यायालय में उन पर मुकदमा चलाया गया। हेमू तो आत्मबलिदान के लिए तत्पर ही थे। उन्होंने अपने दोनों साथियों को बचाने के लिए इस काण्ड की पूरी जिम्मेदारी स्वयं पर ले ली। न्यायालय ने उसे फाँसी की सजा सुनायी। २३ जनवरी, १९४३ को १९ वर्ष की सुकुमार अवस्था में यह क्रान्तिकारी हँसते हुए फाँसी पर चढ़ गया। उस समय उनके चेहरे का तेज देखते ही बनता था।

हेमू कालाणी का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। वह आजादी के दीवानों के लिए चिन्गारी बन गये। सिन्ध के घर–घर में उसकी कथाएँ कही जाने लगीं। आज तो सिन्ध प्रान्त भारत में ही नहीं है; पर वहाँ से भारत आये लोग हेमू का स्मरण सदा करते हैं।

❖

११ मार्च **बलिदान-दिवस**

सम्भाजी का हिन्दुत्व के लिए बलिदान

भारत में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अनेक वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दी है, इसी कारण हम आज गर्व से सिर उठाकर जीवित हैं। अन्यथा विश्व के अन्य देशों की तरह भारत में भी इस्लाम छा गया होता। छत्रपति शिवाजी के पुत्र सम्भाजी भी इस मणिमाला के एक गौरवपूर्ण मोती हैं।

शिवाजी के देहान्त के बाद सम्भाजी ने हिन्दवी साम्राज्य का भार सँभाला; पर दुर्भाग्य से वे अपने पिता की तरह दूरदर्शी नहीं थे और न ही उनके पास समर्थ स्वामी जैसा कोई मार्गदर्शक था। इस कारण उनके शासन को जनता में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई, जैसी शिवाजी की थी। दूसरी ओर औरंगजेब सिर कुचले हुए नाग की भाँति अवसर की तलाश में रहता ही था। सम्भाजी को यह ध्यान ही नहीं था कि वह कभी भी आक्रमण कर सकता है। वे सामान्य रूप से अपने राजकाज में व्यस्त थे।

औरंगजेब ने एक बार तीन लाख सैनिकों को लेकर इस हिन्दू साम्राज्य पर हमला कर दिया। सम्भाजी और उनके वीर सैनिकों ने यद्यपि पूरी ताकत से उसका सामना किया; पर उनके पास सेना बहुत कम थी। सम्भाजी को बन्दी बना लिया गया और रायगढ़ पर औरंगजेब का कब्जा हो गया। सम्भाजी के हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डालकर जेल में डाल दिया गया।

औरंगजेब उनका मनोबल तोड़कर हिन्दू शक्ति को सदा के लिए कुचलना चाहता था। अत: उसने सम्भाजी को इस्लाम अपनाने को कहा। उसका मत था कि यदि सम्भाजी मुसलमान बन जायेंगे, तो शेष मराठों को मुसलमान बनाना

आसान हो जाएगा। उसने सम्भाजी को कहा कि यदि तुम इस्लाम स्वीकार कर लो, तो तुम्हारा राज्य वापस कर दिया जाएगा और वहाँ से कोई कर नहीं लिया जाएगा। इसके साथ ही हमारी औरू तुम्हारी सदा के लिए मित्रता हो जायेगी।

पर सम्भाजी ने उसका प्रस्ताव यह कहकर ठुकरा दिया कि सिंह कभी सियारों की जूठन नहीं खाते। मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू ही मरूँगा। औरंगजेब ने तिलमिला कर उन्हें यातनाएँ देना प्रांरम्भ किया। उनके शरीर पर २०० किलो भार की जञ्जीरे बँधी थीं, फिर भी उनसे सौ कदम चलने को कहा गया। सम्भाजी चार–छह कदम चलकर ही गिर जाते। उन्हें कई दिन तक भूखा और प्यासा भी रखा गया, फिर भी उनका मनोबल कम नहीं हुआ।

जञ्जीरों की रगड़ से सम्भाजी के शरीर पर घाव हो गये। उनकी चिकित्सा तो दूर, उन पर नमक–मिर्च डाला गया। इससे उन्हें बहुत पीड़ा होती थी। सैनिक उनसे बार–बार कहते कि तुम इस्लाम अपना लो, तुम्हारे सब दुख मिट जायेंगे; पर सम्भाजी अपने निश्चय पर अडिग रहे। अब उनके शरीर को गर्म चिमटों से दागा जाने लगा। उनकी आँखों में गर्म कीलें डालकर उन्हें फोड़ दिया गया; पर उस सिंह पुरुष के मुँह से आह तक न निकली।

अन्तत: चिढ़कर औरंगजेब ने उनकी हत्या करने का आदेश दिया। ११ मार्च, १६८६ को सम्भाजी के टुकड़े–टुकड़े कर दिये गये; पर उस वीर ने मुस्लिम धर्मान्धिता के सामने सिर नहीं झुकाया। सम्भाजी का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। उनके छोटे भाई राजाराम के नेतृत्व में हिन्दू वीरों ने धर्म व स्वराज्य की रक्षा का व्रत लेकर मुगल राज्य की ईंट से ईंट बजा दी। ऐसे वीरों के बल पर ही आज हिन्दू धर्म की कीर्ति पताका सम्पूर्ण विश्व में फहरा रही है।

❖

१२ मार्च पुण्य-तिथि

चन्द्रशेखर आजाद के साथी डा0 भगवानदास माहौर

देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगाने वाले डा० भगवानदास माहौर का जन्म २७ फरवरी, १९०९ को ग्राम बडौनी (दतिया, मध्य प्रदेश) में हआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में पूरी कर ये झाँसी आ गये। यहाँ चन्द्रशेखर आजाद के सम्पर्क में आकर १७ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने क्रान्तिपथ स्वीकार कर लिया।

भगवानदास की परीक्षा लेने के लिए आजाद और शचीन्द्रनाथ बख्शी ने एक नाटक किया। ये दोनों कुछ नये साथियों को पिस्तौल भरना सिखा रहे थे। उसकी नली भगवानदास की ओर थी। बख्शी जी ने कहा – देखो गोली ऐसे चलाते हैं। तभी आजाद ने बख्शी जी का हाथ ऊपर उठा दिया। गोली छत पर जा लगी। बख्शी जी ने घबराहट का अभिनय किया। आजाद ने तब भगवानदास के दिल की धड़कन देखी। वह बिल्कुल सामान्य थी। आजाद समझ गये कि दल के लिए ऐसा ही साहसी व्यक्ति चाहिए।

कक्षा १२ की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने आजाद की सलाह पर ग्वालियर के विक्टोरिया कॉलेज में प्रवेश ले लिया और छात्रावास में रहने लगे; पर जब वहाँ आने वाले क्रान्तिकारियों की संख्या बहुत बढ़ने लगी, तो उन्होंने 'चन्द्रबदनी का नाका' मोहल्ले में एक कमरा किराये पर ले लिया। जब लाहौर में साण्डर्स को मारने का निर्णय हो गया, तो आजाद ने उन्हें भी वहाँ बुला लिया। उन और विजय कुमार सिन्हा पर यह जिम्मेदारी थी कि यदि साण्डर्स भगतसिंह आदि के

हाथ से बच जाए, तो ये दोनों उसे निबटा देंगे।

एक बार आजाद ने भगवानदास और सदाशिव मलकापुरकर के हाथ एक पेटी हथियार राजगुरू के पास अकोला भेजे। भुसावल पर उन्हें गाड़ी बदलनी थी। वहाँ आबकारी अधिकारी ने वह पेटी खुलवा ली। इस पर दोनों वहाँ से भागे; पर पकड़ लिये गये। जेल में डालकर जलगाँव में उन पर मुकदमा चलने लगा। २१ फरवरी को उनके विरुद्ध गवाही देने के लिए मुखबिर जयगोपाल और फणीन्द्र घोष आने वाले थे। इन्होंने सोचा कि इन दोनों को यदि वहाँ गोली मार दें, तो फिर कोई मुखबिरी नहीं करेगा।

इन्होंने अपने वकील द्वारा चन्द्रशेखर आजाद को सन्देश भेजा। आजाद ने सदाशिव के बड़े भाई शंकरराव के हाथ २० फरवरी की शाम को भात के कटोरे में एक भरी हुई पिस्तौल भेज दी। यह बड़े खतरे का काम था। २१ फरवरी को उन्हें न्यायालय में गोली चलाने का अवसर नहीं मिला; पर जब भोजनावकाश में दोनों मुखबिर खाना खा रहे थे, तो भगवानदास ने गोली चला दी। पहली गोली पुलिस अधिकारी नानकशाह को लगी। दोनों मुखबिर डर कर मेज़ के नीचे छिप गये। इस कारण वे अगली दो गोलियों से घायल तो हुए; पर मरे नहीं। इधर तीन गोली चलाने के बाद पिस्तौल जाम हो गयी।

इस मुकदमे में उन्हें आजीवन कारावास दिया गया। १९३८ में जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई, तो आठ साल की सजा के बाद उन्हें छोड़ दिया गया। इसके बाद भी वे कई आन्दोलनों में जेल गये। उन्होंने अपनी पढ़ाई भी प्रारम्भ कर दी। '१८५७ के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' विषय पर उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से पी.एच–डी की। इसके बाद ये प्राध्यापक हो गये। बुन्देलखण्ड के साहित्य पर शोध के लिए झाँसी विश्वविद्यालय ने इन्हें डी.लिट की उपाधि दी। डा० भगवानदास की इच्छा गीत गाते हुए फाँसी का फन्दा चूमने की थी; पर यह पूरी नहीं हो पायी। १२ मार्च, १९७९ को लखनऊ में उनका देहान्त हुआ।

❖

१४ मार्च **बलिदान-दिवस**

पेशावर पर भगवा लहराया

पेशावर पर बलपूर्वक कब्जा कर अफ़गानी अजीम खाँ की सेनाएँ नौशेहरा मैदान तक आ चुकी थीं। यह सुनकर महाराजा रणजीत सिंह ने हरिसिंह नलवा एवं दीवान कृपाराम के नेतृत्व में उनका मुकाबला करने को स्वराजी सैनिकों के जत्थे खैराबाद भेज दिये। महाराजा के साथ बाबा फूलासिंह अटक नदी के किनारे डट गये; पर शत्रुओं ने अटक पर बना एकमात्र पुल बारूद से उड़ा दिया। इससे दोनों समूहों का आपसी सम्पर्क कट गया।

रणजीत सिंह ने नदी पर नावों का पुल बनाने का आदेश दिया। तभी एक गुप्तचर ने समाचार दिया कि अटक पार वाले दल शत्रुओं से घिर गये हैं। उन्हें यदि शीघ्र सहायता नहीं मिली, तो सबकी जान जा सकती है। रणजीत सिंह ने चिन्तित नजरों से बाबा फूलासिंह की ओर देखा। बाबा ने संकेत समझकर अपना सिर झुका दिया। फिर घोड़े पर बैठे-बैठे ही उन्होंने हाथ को ऊँचा उठाकर अपने सैनिकों को आगे बढ़ने का आदेश दिया।

आदेश पाकर ५०० निहंग साथियों ने तेज बहती नदी में घोड़े उतार दिये। एक ओर नदी की विकराल धारा थी, तो दूसरी ओर शेर जैसे कलेजे वाले साहसी वीर। पानी के जहाज की तरह धाराओं को चीरकर वे अफगानों पर टूट पड़े। शत्रु सैनिक सिर पर पाँव रखकर भागे। जहाँगीरा का दुर्ग भी सिक्ख सैनिकों के पास आ गया। यह सुनकर अजीम खाँ बहुत आगबबूला हुआ। उसने सैनिकों को बहुत भला-बुरा कहा। कुरान की कसम दिलाकर फिर से लड़ने और इस अपमान का बदला लेने को तैयार किया।

अफगान सेनापति मुहम्मद खान लुण्डा ने तीस हजार सैनिकों के साथ तरकी की पहाड़ियों पर मोर्चा बाँधा। रणजीत सिंह ने फिर से बाबा फूलासिंह के नेतृत्व में १,५०० सैनिक भेज दिये। लेकिन फूलासिंह जरा भी चिन्तित नहीं हुए। उन्होंने सैनिकों को ललकारा — गुरू गोविन्द सिंह ने चिड़ियों से बाज लड़ाने की बात कही थी। आज उसी का अवसर आया है। मत भूलो कि एक-एक स्वराजी सैनिक सवा लाख के बराबर होता है। हमें भगवा फहराकर स्वराज्य की सीमाएँ पेशावर तक पहुँचानी हैं।

फूलासिंह की घनगर्जना से सैनिकों का खून गरम हो गया और उनमें उत्साह की लहर दौड़ गयी। घनघोर संग्राम शुरू हो गया। तलवारें आपस में टकराने लगीं। निहंगों के जौहर देखते ही बनते थे। शीघ्र ही महाराजा ने एक और बड़ी टुकड़ी इनकी सहायता के लिए भेज दी। इससे सिक्ख सैनिकों का हौसला बढ़ गया। वे 'बोले सो निहाल, सत् श्री अकाल' कहकर शत्रुओं पर टूट पड़े। अफगान सैनिक 'या खुदा, या खुदा' कहकर भागने लगे।

वह १४ मार्च, १८२३ का दिन था। बाबा फूलासिंह की तलवार मुसलमानों पर कहर ढा रही थी। इसी बीच उन्हें एक गोली आ लगी। कुछ सैनिक उनकी सहायता को आगे बढ़े; पर बाबा चिल्लाये — मेरी चिन्ता मत करो। अपना कर्त्तव्य निभाओ। याद है न, हमें पेशावर पर भगवा झण्डा फहराना है।

इसी समय एक और गोली ने उनके घोड़े को भी गिरा दिया। अब बाबा हाथी पर चढ़ गये। तभी एक अफगान सैनिक ने एक साथ कई गोलियाँ बाबा की ओर चलायीं। इस हमले को वे नहीं झेल पाये। बाबा के बलिदान होते ही सिक्ख सैनिकों ने पूरी ताकत से हमला बोल दिया। अफगान सेना पीछे हटने लगी। कुछ समय बाद अन्ततः पेशावर पर भगवा फहरा ही गया।

❖

१४ मार्च जन्म-दिवस

वैदिक गणित के संन्यासी प्रवक्ता

संन्यासी को देखकर लोगों के मन में उनके त्याग तथा अध्यात्म के प्रति श्रद्धा जाग्रत होती है; पर इनमें से अनेक उच्च शिक्षा विभूषित होते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ जी ऐसी ही विभूति थे।

१४ मार्च १८८४ को तिन्निवेलि, मद्रास में तहसीलदार श्री पी. नृसिंह शास्त्री के घर जन्मे इस बालक का नाम वेंकटरमन रखा गया। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण प्रत्येक कक्षा में वे अनिवार्य रूप से प्रथम आते थे। १५ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें संस्कृत की 'सरस्वती' जैसी उच्च उपाधि से विभूषित किया गया। १९०३ में उन्होंने अमरीकन कॉलिज ऑफ साइन्स, रोचेस्टर के मुम्बई केन्द्र से एम.ए किया। १९०४ में उन्होंने एक साथ संस्कृत, दर्शन, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भौतिकी एवं खगोल में एम.ए. की परीक्षा उच्चतम सम्मान के साथ उत्तीर्ण कीं। सम्भवत: आज तक यह अखण्डित कीर्त्तिमान है।

समाज सेवा और अध्यात्म की ओर रुचि होने के कारण उन्होंने गोपालकृष्ण गोखले के साथ राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन तथा दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की समस्याओं पर काम किया। १९०८ में वे राजमहेन्द्रि के नवीन कालिज के प्राचार्य बने; पर १९११ में वे शृंगेरी पीठ के पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री नृसिंह भारती के पास मैसूर पहुँच गये और आठ साल तक वेदान्त दर्शन का गहन अध्ययन किया।

४ जुलाई १९१९ को शारदा पीठ के शंकराचार्य त्रिविक्रम तीर्थ जी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा देकर उनका नाम भारती कृष्ण तीर्थ रखा। १९२१ में उन्हें

शारदापीठ के शंकराचार्य पद पर विभूषित किया गया। १९२५ में जब गोवर्धन पीठ के शंकराचार्य श्री मधुसूदन तीर्थ का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया, तो उन्होंने इस पीठ का कार्यभार भी श्री भारती को ही सौंप दिया।

१९५८ में वे अमरीका और ब्रिटेन् गये। वहाँ चर्चों और महाविद्यालयों में तथा दूरदर्शन आदि पर उनके भाषण हुए। स्वामी जी गणित के महान् विद्वान् थे। उन्होंने अथर्ववेद में छिपे गणित के १६ सूत्र खोज निकाले, जिनसे बड़ी—बड़ी गणनाएँ संगणक से भी तेज गति से होना सम्भव था। उन्होंने हर सूत्र पर एक ग्रन्थ लिखा था, जो किसी कारण नष्ट हो गये। इस पर उन्होंने उन सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या कर एक नयी पुस्तक लिखी, जो अब उपलब्ध है।

१९५९ में उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और २ फरवरी १९६० को उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

❖

१५ मार्च जन्म-दिवस

समर्पित व्यक्तित्व : सुनील उपाध्याय

राष्ट्रीय स्वयंसेबक संघ के विचारों से प्रेरित सैकड़ों संगठनों में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् का विशेष स्थान है। अन्य संगठनों में जहाँ सभी आयु वर्ग के लोग होते हैं, वहाँ विद्यार्थी परिषद् शुद्ध युवाओं का संगठन है। परिषद के काम को हिमाचल प्रदेश में सुदृढ़ आधार देने वाले सुनील उपाध्याय का जन्म १५ मार्च, १९५९ को जम्मू–कश्मीर के कठुआ जिले में हुआ था। वे श्री विद्या प्रकाश एवं श्रीमती पद्मावती देवी की छठी सन्तान थे। बचपन से ही उनमें नेतृत्व करने की क्षमता थी। १९७५ में जब देश में आपात्काल लगा, तो वे कक्षा दस के छात्र थे। इतना ही नहीं, तो उसी समय उनके बड़े भाई का विवाह भी था। इसके बावजूद उन्होंने सत्याग्रह किया और नौ माह जेल में रहे।

बी.ए. में पढ़ते समय कठुआ स्थित बिड़ला समूह की एक कपड़ा मिल में मजदूरों ने हड़ताल की। मालिकों ने जब मजदूरों का दमन शुरू किया, तो सुनील अपने साथियों के साथ उस हड़ताल में कूद गये और मालिकों को झुकने के लिए मजबूर कर दिया। उस समय उन पर जम्मू–कश्मीर का विद्यार्थी परिषद् का काम था। उन्होंने वहाँ भी अनेक छात्र आन्दोलनों का नेतृत्व किया।

सुनील उपाध्याय के मन में इस बात को लेकर बहुत बेचैनी थी कि पावन देवभूमि हिमालय में कम्युनिस्ट अपने पैर फैला रहे हैं। उन्होंने अपनी पीड़ा वरिष्ठ अधिकारियों के सम्मुख रखी। उन्होंने सुनील जी को हिमाचल प्रदेश जाकर विद्यार्थी परिषद के काम को मजबूत करने को कहा। सुनील जी तुरन्त तैयार हो गये और इसके बाद वे अन्तिम साँस तक हिमाचल में ही काम करते रहे।

१९७९–८० में हिमाचल प्रदेश में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद सर्वाधिक शक्तिशाली संगठन बन कर उभरा। इसका श्रेय नि:सन्देह सुनील उपाध्याय के परिश्रम, समर्पण और कार्य कुशलता को जाता है।

१९८१ में हिमाचल विश्वविद्यालय के प्रबन्धकों ने वामपन्थियों से मिलकर एम.बी.ए. की परीक्षा में धाँधली की। विद्यार्थी परिषद ने इसका कड़ा विरोध किया। जब प्रशासन के कान पर जूँ नहीं रेंगी, तो सुनील उपाध्याय अपने कुछ साथियों के साथ आमरण अनशन पर बैठ गये। आठ दिन बाद प्रशासन को झुकना पड़ा। इसी प्रकार छात्रावासों की कमी के विरुद्ध हुए आन्दोलन में भी उन्हें सफलता मिली। इससे विद्यार्थी परिषद का डंका पूरे विश्वविद्यालय में बजने लगा और १९८२ के चुनावों में परिषद को अच्छी सफलता मिली।

पर इस धुआँधार परिश्रम का सुनील जी के स्वास्थ्य पर बहुत खराब असर हुआ। रात में सफर, दिन में काम, भोजन की भी कोई उचित व्यवस्था नहीं। ऐसे में परिषद के १९८५ में पटना में हुए अधिवेशन में उनके मुँह से खून निकलने लगा। जाँच से पता लगा कि उनके फेफड़े खराब हो चुके हैं। उन्हें तुरन्त दिल्ली और फिर वहाँ से मुम्बई भेजा गया। आठ महीने तक मुम्बई के अस्पताल में जीवन और मृत्यु से वे संघर्ष करते रहे।

बीमारी में भी उनके मन में केवल यही विचार था कि हिमाचल प्रदेश में विद्यार्थी परिषद के काम को सबल कैसे बनाया जा सकता है। वे अपनी सेवा में लगे कार्यकर्त्ताओं से इसी बारे में बोलते रहते थे। मृत्यु के इतने निकट आकर भी उन्हें मृत्यु से भय नहीं था। १२ नवम्बर, १९८५ (दीपावली) की प्रात: चार बजे उनका जीवन दीप सदा के लिए बुझ गया; पर हिमाचल प्रदेश में विद्यार्थी परिषद के दीप को वे सदा के लिए आलोकित कर गये।

❖

१६ मार्च जन्म-दिवस

जिन्होंने अटल जी को स्वयंसेवक बनाया

अपनी शिक्षा–दीक्षा पूर्ण कर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बनकर अपना सम्पूर्ण जीवन समाज सेवा हेतु समर्पित करने वाले कार्यकर्त्ताओं की एक लम्बी मालिका है। १६ मार्च, १९१३ को अकोला, महाराष्ट्र में जन्मे श्री नारायण राव तर्टे इस मालिका के एक सुवासित पुष्प थे।

नारायण राव के पिता श्री विश्वनाथ तर्टे की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इस कारण नारायण राव किसी तरह मैट्रिक तक पढ़ सके। इसी बीच उनका सम्पर्क संघ से हुआ। नारायण राव की इच्छा थी कि वे भी संघ के प्रचारक बनें; पर अकोला के कार्यकर्त्ताओं ने यह कहकर उन्हें हतोत्साहित किया कि उनकी शिक्षा बहुत कम है। पिताजी के देहान्त के बाद नारायण राव से रहा नहीं गया और वे नागपुर आकर संघ के संस्थापक डा० हेडगेवार से मिले।

उन दिनों प्रचारक प्राय: उच्च शिक्षा प्राप्त होते थे; पर डा० हेडगेवार ने जब नारायण राव के मन में संघ कार्य की लगन देखी, तो वे उन्हें प्रचारक बनाने के लिए तैयार हो गये। नारायण राव का मन खुशी से झूम उठा। डा० हेडगेवार ने उन्हें ग्वालियर जाकर संघ शाखा खोलने को कहा। चलते समय डा० जी उन्हें अपने हाथ से लिखी संघ की प्रार्थना, चार रुपये, समर्थ स्वामी रामदास कृत 'दासबोध' तथा लोकमान्य तिलक द्वारा लिखित 'गीता रहस्य' नामक पुस्तक दी। इस अनमोल पूँजी के साथ नारायण राव ग्वालियर आ गये।

ग्वालियर उनके लिए नितान्त अपरिचित नगर था। वहाँ उनके प्रारम्भिक दिन किन कठिनाइयों में बीते, इसकी चर्चा कभी नारायण राव ने नहीं की।

कितने दिन वे भूखे रहे और कितनी रात खुले मैदान में या स्टेशन पर सोये, कहना कठिन है; पर अपने परिश्रम से उन्होंने ग्वालियर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बीज बो दिया, जो कुछ ही समय में विशाल पेड़ बनकर लहलहाने लगा। केवल नगर ही नहीं, तो निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्र में भी अनेक शाखाएँ खुल गयीं। इसके बाद उन्होंने भिण्ड, मुरैना, शिवपुरी, गुना जैसे नगरों में प्रवास किया और वहाँ भी शाखाओं की स्थापना की।

उन दिनों ग्वालियर की शाखा पर जो स्वयंसेवक आते थे, उनमें से एक थे अटल बिहारी वाजपेयी, जो आगे चलकर देश के प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने अपने जीवन पर नारायण राव तर्टे के प्रभाव को स्पष्ट रूप से कई बार स्वीकार किया है। प्रधानमन्त्री बनने के बाद जब वे नागपुर आये, तो संघ कार्यालय आकर उन्होंने नारायण राव से आशीर्वाद लिया। हिन्दुस्थान समाचार के संस्थापक तथा विश्व हिन्दू परिषद के संस्थापक महामन्त्री दादा साहब आप्टे को भी मुम्बई में शाखा पर लाने का श्रेय नारायण राव को ही है।

कुछ समय नारायण राव ने उत्तर प्रदेश के पीलीभीत में भी कार्य किया। जब भारतीय भाषाओं में 'हिन्दुस्थान समाचार' नामक समाचार संस्था की स्थापना की गयी, तो नारायण राव को उस काम में लगाया गया। उन्हें जो भी काम संगठन की ओर से दिया गया, उसे पूरे मनोयोग से उन्होंने किया। अधिक अवस्था होने पर जब उनका शरीर परिश्रम करने योग्य नहीं रहा, तो वे नागपुर में महाल के संघ कार्यालय में रहने लगे।

महाल में ही वह 'मोहिते का बाड़ा' भी है, जहाँ डा० हेडगेवार ने पहली शाखा लगायी थी। अपने अन्तिम समय तक नारायण राव उसी शाखा में जाते रहे। एक अगस्त, २००५ को उस महान् कर्मयोगी ने अपने सक्रिय और सार्थक जीवन को विराम दे दिया।

❖

१८ मार्च **प्रकाशन-तिथि**

स्वाधीनता का गौरव ग्रन्थ

भारत की स्वतन्त्रता का श्रेय उन कुछ साहसी लेखकों को भी है, जिन्होंने प्राणों की चिन्ता किये बिना सत्य इतिहास लिखा। ऐसे ही एक लेखक थे पण्डित सुन्दरलाल, जिनकी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' ने सत्याग्रह या बम–गोली द्वारा अंग्रेजों से लड़ने वालों को सदा प्रेरणा दी।

१८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम को दबाने के बाद अंग्रेजों ने योजनाबद्ध रूप से हिन्दू और मुस्लिमों में मतभेद पैदा किया। 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अर्न्तगत उन्होंने बंगाल का विभाजन कर दिया। पण्डित सुन्दरलाल ने इस विद्वेष की जड़ तक पहुँचने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने प्रामाणिक दस्तावेजों तथा इतिहास का गहन अध्ययन किया। उनके सामने अनेक तथ्य खुलते चले गये। इसके बाद वे तीन साल तक क्रान्तिकारी बाबू नित्यानन्द चटर्जी के घर पर शान्त भाव से काम में लगे रहे। इसी साधना के फलस्वरूप १,००० पृष्ठों का 'भारत में अंग्रेजी राज' नामक ग्रन्थ तैयार हुआ।

इसकी विशेषता यह थी कि इसे सुन्दरलाल जी ने स्वयं नहीं लिखा। वे बोलते थे और प्रयाग के श्री विशम्भर पाण्डे इसे लिखते थे। इस प्रकार इसकी पाण्डुलिपि तैयार हुई; पर इसका प्रकाशन आसान नहीं था। सुन्दरलाल जी जानते थे कि प्रकाशित होते ही शासन इसे जब्त कर लेगा। अत: उन्होंने इसे कई खण्डों में बाँटकर अलग–अलग नगरों में छपवाया। तैयार खण्डों को प्रयाग में जोड़ा गया और अन्तत: १८ मार्च, १९२८ को पुस्तक प्रकाशित हो गयी।

पहला संस्करण २,००० प्रतियों का था। १,७०० प्रतियाँ तीन दिन के

अन्दर ही ग्राहकों तक पहुँचा दी गयीं। शेष ३०० प्रतियाँ डाक या रेल द्वारा भेजी जा रही थीं; पर इसी बीच अंग्रेजों ने २२ मार्च को प्रतिबन्धित घोषित कर इन्हें जब्त कर लिया। जो १,७०० पुस्तकें जा चुकी थीं, शासन ने उन्हें भी ढूँढने का प्रयास किया; पर उसे आंशिक सफलता ही मिली।

इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध देश भर के नेताओं और समाचार पत्रों ने आवाज उठायी। गान्धी जी ने भी इसे पढ़कर अपने पत्र 'यंग इण्डिया' में इसके पक्ष में लेख लिखा। सत्याग्रह करने वाले इसे जेल ले गये। वहाँ हजारों लोगों ने इसे पढ़ा। इस प्रकार पूरे देश में इसकी चर्चा हो गयी। दूसरी ओर सुन्दरलाल जी प्रतिबन्ध के विरुद्ध न्यायालय में चले गये। उनके वकील तेजबहादुर सप्रू ने तर्क दिया कि इसमें एक भी तथ्य असत्य नहीं है। सरकारी वकील ने कहा कि यह इसीलिए अधिक खतरनाक है।

इस पर सुन्दरलाल जी ने संयुक्त प्रान्त की सरकार को लिखा। गर्वनर शुरू में तो राजी नहीं हुए; पर १५ नवम्बर १९३७ को उन्होंने प्रतिबन्ध हटा लिया। इसके बाद अन्य प्रान्तों में भी प्रतिबन्ध हट गया। अब नये संस्करण की तैयारी की गयी। चर्चित पुस्तक होने के कारण अब कई लोग इसे छापना चाहते थे; पर सुन्दरलाल जी ने कहा कि वे इसे वहीं छपवायेंगे, जहाँ से यह कम दाम में छप सके। ओंकार प्रेस, प्रयाग ने इसे केवल सात रु० मूल्य में छापा। इस संस्करण के छपने से पहले ही १०,००० प्रतियों के आदेश मिल गये थे। प्रकाशन जगत में ऐसे उदाहरण कम ही हैं।

भारत की स्वाधीनता के इस गौरव ग्रन्थ का तीसरा संस्करण १९६० में भारत सरकार ने प्रकाशित किया। अब भी हर तीन–चार साल बाद इसका नया संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

❖

२० मार्च बलिदान-दिवस

वीरता की प्रतिमूर्त्ति अवन्तीबाई लोधी

मण्डला, मध्य प्रदेश के रामगढ़ राज्य की रानी अवन्तीबाई ने एक बार राजा विक्रमजीत सिंह से कहा कि उन्होंने स्वप्न में एक चील को आपका मुकुट ले जाते हुए देखा है। ऐसा लगता है कि कोई संकट आने वाला है। राजा ने कहा, हाँ, वह संकट अंग्रेजों की ओर से आ रहा है; पर मेरी रुचि अब पूजापाठ में अधिक हो गयी है, इसलिए तुम ही राज संभालकर इस संकट से निबटो।

रानी एक बार मन्त्रियों के साथ बैठी कि लार्ड डलहौजी का दूत एक पत्र लेकर आया। उसमें लिखा था कि राजा के विक्षिप्त होने के कारण हम शासन की व्यवस्था के लिए एक अंग्रेज अधिकारी नियुक्त करना चाहते हैं। रानी समझ गयी कि सपने वाली चील आ गयी है। उसने उत्तर दिया कि मेरे पति स्वस्थ हैं। मैं उनकी आज्ञा से तब तक काम देख रही हूँ, जब तक मेरे बेटे अमानसिंह और शेरसिंह बड़े नहीं हो जाते। अत: रामगढ़ को अंग्रेज अधिकारी की कोई आवश्यकता नहीं है।

पर डलहौजी तो राज्य हड़पने का निश्चय कर चुका था। उसने अंग्रेज अधिकारी नियुक्त कर दिया। इसी बीच राजा का देहान्त हो गया। अब रानी ने पूरा काम सँभाल लिया। वह जानती थी कि देर—सबेर अंग्रेजों से मुकाबला होगा ही, अत्त: उसने आसपास के देशभक्त सामन्तों तथा रजवाड़ों से सम्पर्क किया। अनेक उनका साथ देने को तैयार हो गये। यह १८५७ का काल था। नाना साहब पेशवा के नेतृत्व में अंग्रेजों को बाहर निकालने के लिए संघर्ष की तैयारी हो रही थीं। रामगढ़ में भी क्रान्ति का प्रतीक लाल कमल और रोटी घर—घर घूम रही

थी। रानी ने इस यज्ञ में अपनी आहुति देने का निश्चय कर लिया। उनकी तैयारी देखकर अंग्रेज सेनापति वाशिंगटन ने हमला बोल दिया।

रानी ने बिना घबराये खैरी गाँव के पास वाशिंगटन को घेर लिया। रानी के कौशल से अंग्रेजों के पाँव उखड़ने लगे। इसी बीच वाशिंगटन रानी को पकड़ने के लिए अपने घोड़े सहित रानी के पास आ गया। रानी ने तलवार के भरपूर वार से घोड़े की गरदन उड़ा दी। वाशिंगटन नीचे गिर पड़ा और प्राणों की भीख माँगने लगा। रानी ने दयाकर उसे छोड़ दिया।

पर १८५८ में वह फिर रामगढ़ आ धमका। इस बार उसके पास पहले से अधिक सेना तथा रसद थी। उसने किले को घेर लिया; पर तीन महीने बीतने पर भी वह किले में प्रवेश नहीं कर सका। इधर किले में रसद समाप्त हो रही थी। अत: रानी कुछ विश्वासपात्र सैनिकों के साथ एक गुप्तद्वार से बाहर निकल पड़ी। इसी बीच किले के द्वार खोलकर भारतीय सैनिक अंग्रेजों पर टूट पड़े; पर वाशिंगटन को रानी के भागने की सूचना मिल गयी। वह एक टुकड़ी लेकर पीछे दौड़ा। देवहारगढ़ के जंगल में दोनों की मुठभेड़ हुई।

वह २० मार्च, १८५८ का दिन था। रानी ने काल का रूप धारण कर लिया; वह रणचण्डी बनकर शत्रुओं पर टूट पड़ी। अचानक एक फिरंगी के वार से रानी का दाहिना हाथ कट गया। तलवार छूट गयी। रानी समझ गयी कि अब मृत्यु निकट है। उसने जेल में सड़ने की अपेक्षा मरना श्रेयस्कर समझा। अत: एक झटके से अपने बायें हाथ से कमर से कटार निकाली और सीने में घोंप ली। अगले ही क्षण रानी का मृत शरीर घोड़े पर झूल गया।

भारतीय स्वतन्त्रता के गौरवशाली इतिहास में आज भी गढ़मण्डल की रानी अवन्तीबाई लोधी का नाम अमर है।

❖

२० मार्च　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　जन्म-दिवस

कला प्रेमी संगठक डा० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

लोगों को जोड़ना एक कठिन काम है, उसमें भी कलाकारों को जोड़ना तो और भी कठिन है; क्योंकि हर कलाकार के अपने नखरे और वैचारिक पूर्वाग्रह होते हैं। फिर भी संस्कार भारती के अध्यक्ष के नाते विविध विधाओं के नये, पुराने और स्थापित कलाकारों को जोड़ने का काम डा० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने पूरी शक्ति से किया। उनकी मान्यता थी कि कला का कोई रूप अछूता न रहे तथा सबके बारे में प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हों।

शैलेन्द्र जी का जन्म २० मार्च, १९३६ को हुआ था। बचपन में ही वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आ गये थे। शिक्षा पूर्ण कर वे अध्यापक बने और क्रमश: पटना विश्वविद्यालय में आचार्य, हिन्दी विभागाध्यक्ष तथा फिर भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर काम किया। अध्यापन के साथ उनकी विश्वविद्यालय में चलने वाली सामाजिक गतिविधियों में भी काफी रुचि रहती थी। इसलिए वे पटना विश्वविद्यालय शिक्षक संघ के भी अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय सेवा योजना के अन्तर्गत वे स्वयं झाड़ू लेकर छात्रों के साथ सड़कों और नालियों की सफाई में जुट जाते थे। बिहार में प्राय: प्रतिवर्ष बाढ़ आती है। ऐसे में वे केवल भाषण ही नहीं देते थे, अपितु स्वयं सहायता सामग्री लेकर बाढ़ पीड़ित क्षेत्र में पहुँच जाते थे।

१९७४-७५ में बिहार में हुए छात्र आन्दोलन में उन्होंने जयप्रकाश नारायण के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष किया। इस कारण आपातकाल

में उन्हें जेल की यातनाएँ भी सहनी पड़ी। डा० शैलेन्द्र नाथ भाजपा के टिकट पर पटना शहर से एक बार विधायक तथा एक बार सांसद भी रहे।

अवकाश प्राप्ति के बाद उन्होंने अपना पूरा समय कलाकारों में राष्ट्रभाव जाग्रत करने वाली संस्था 'संस्कार भारती' को समर्पित कर दिया। उसके अध्यक्ष के नाते नौ साल तक उन्होंने देश के कोने–कोने में प्रवास किया। इस चक्कर में प्राय: वे अपने परिवार तक को उपेक्षित कर देते थे।

शैलेन्द्र जी को हिन्दी से बहुत प्रेम था। वे उसे विश्व भाषा बनाना चाहते थे। उन्होंने अनेक विश्व हिन्दी सम्मेलनों में भाग लिया। १९९९ के लन्दन सम्मेलन में उन्हें शासन ने प्रतिनिधि नहीं बनाया, तो वे पत्नी सहित निजी खर्च पर वहाँ गये। हिन्दी दुनिया के अनेक देशों में बोली और समझी जाती है। अत: भाजपा शासन में उन्होंने विदेश मन्त्री यशवन्त सिन्हा को १० जनवरी को 'विश्व हिन्दी दिवस' मनाने का सुझाव दिया, चूँकि १० जनवरी, १९७५ को नागपुर में पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था। उनका यह सुझाव मान लिया गया। हिन्दी भाषा एवं भारतीय कलाओं के प्रति उनके समर्पण को देखकर शासन ने उन्हें 'पद्मश्री' से सम्मानित किया।

भाजपा के शासनकाल में कई बार उन्हें राज्यपाल बनाने की चर्चा हुई; पर वे एक मौन साधक की तरह संस्कार भारती के काम में ही लगे रहे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें लोकनायक जयप्रकाश की जीवनी, लिफाफा देखकर (ललित निबन्ध), शिक्षा के नाम पर, कला संस्कृति और हम (निबन्ध संग्रह), बहुत दिनों के बाद (मुक्तक संग्रह), शब्द पके मन आँच पर, कलम उगलती आग (कविता संग्रह) प्रमुख हैं।

डा० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव चरैवेति–चरैवेति के जीवन्त प्रतीक थे। २००६ ई० संस्कार भारती का रजत जयन्ती वर्ष था। इस वर्ष में उन्होंने व्यापक प्रवास का कार्यक्रम बनाया था; पर उसे पूरा करने से पहले ही १२ फरवरी, २००६ को वे अनन्त के प्रवास पर चले गये।

२१ मार्च | जन्म-तिथि

विश्वविख्यात खगोलशास्त्री : आर्यभट

खगोलशास्त्र का अर्थ है ग्रह, नक्षत्रों की स्थिति एवं गति के आधार पर पञ्चांग का निर्माण, जिससे शुभ कार्यों के लिए उचित मुहूर्त निकाला जा सके। इस क्षेत्र में भारत का लोहा दुनिया को मनवाने वाले वैज्ञानिक आर्यभट के समय में अंग्रेजी तिथियाँ प्रचलित नहीं थीं। अपने एक ग्रन्थ में उन्होंने कलियुग के ३,६०० वर्ष बाद की मध्यम मेष संक्रान्ति को अपनी आयु २३ वर्ष बतायी है। इस आधार पर विद्वान् उनकी जन्मतिथि २१ मार्च, ४७६ ई० मानते हैं।

उनके जन्मस्थान के बारे में भी विद्वानों एवं इतिहासकारों में मतभेद हैं। उन्होंने स्वयं अपना जन्मस्थान कुसुमपुर बताया है। कुसुमपुर का अर्थ है फूलों का नगर। इसे विद्वान् लोग आजकल पाटलिपुत्र या पटना बताते हैं। ९७३ ई० में भारत आये पर्शिया के विद्वान अलबेरूनी ने भी अपने यात्रा वर्णन में 'कुसुमपुर के आर्यभट' की चर्चा अनेक स्थानों पर की है। कुछ विद्वानों का मत है कि उनके पञ्चांगों का प्रचलन उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक है, इसलिए कुसुमपुर कोई दक्षिण भारतीय नगर होगा। कुछ लोग इसे विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में बहने वाली नर्मदा और गोदावरी के बीच का कोई स्थान बताते हैं। कुछ विद्वान आर्यभट को केरल निवासी मानते हैं।

यद्यपि आर्यभट गणित, खगोल या ज्योतिष के क्षेत्र में पहले भारतीय वैज्ञानिक नहीं थे; पर उनके समय तक पुरानी अधिकांश गणनाएँ एवं मान्यताएँ विफल हो चुकी थीं। पैतामह सिद्धान्त, सौर सिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त और पौलिष सिद्धान्त, यह पाँचों सिद्धान्त पुराने पड़ चुके थे। इनके

आधार पर बतायी गयी ग्रहों की स्थिति तथा ग्रहण के समय आदि की प्रत्यक्ष स्थिति में काफी अन्तर मिलता था। इस कारण भारतीय ज्योतिष पर से लोगों का विश्वास उठ गया। ऐसे में लोग इन्हें अवैज्ञानिक एवं अपूर्ण मानकर विदेशी एवं विधर्मी पञ्चांगों की ओर झुकने लगे थे।

आर्यभट ने इस स्थिति का समझकर इस शास्त्र का गहन अध्ययन किया और उसकी कमियों को दूरकर नये प्रकार से जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। उन्होंने पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की अपनी धुरी तथा सूर्य के आसपास घूमने की गति के आधार पर अपनी गणनाएँ कीं। इससे लोगों का विश्वास फिर से भारतीय खगोलविद्या एवं ज्योतिष पर जम गया। इसी कारण लोग उन्हें भारतीय खगोलशास्त्र का प्रवर्तक भी मानते हैं। उन्होंने एक स्थान पर स्वयं को कुलप आर्यभट कहा है। इसका अर्थ कुछ विद्वान् यह लगाते हैं कि वे नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति भी थे।

उनके ग्रन्थ 'आर्यभटीयम्' से हमें उनकी महत्वपूर्ण खोज एवं शोध की जानकारी मिलती है। इसमें कुल १२१ श्लोक हैं, जिन्हें गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलापाद नामक चार भागों में बाँटा है। वृत्त की परिधि और उसके व्यास क़े संबंध को 'पाई' कहते हैं। आर्यभट द्वारा बताये गये इसके मान को ही आज भी गणित में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी, चन्द्रमा आदि ग्रहों क़े प्रकाश का रहस्य, छाया का मापन, कालगणना, बीजगणित, त्रिकोणमिति, व्यस्तविधि, मूल—ब्याज, सूर्योदय व सूर्यास्त के बारे में भी उन्होंने निश्चित सिद्धान्त बताये।

आर्यभट की इन खोजों से गणित एवं खगोल का परिदृश्य बदल गया। उनके योगदान को सदा स्मरण रखने के लिए १९ अप्रैल, १९७५ को अन्तरिक्ष में स्थापित किये गये भारत में ही निर्मित प्रथम कृत्रिम उपग्रह का नाम 'आर्यभट' रखा गया।

❖

२१ मार्च जन्म-तिथि

विश्वनाथ के आराधक : बिस्मिल्ला खाँ

भगवान् विश्वनाथ के त्रिशूल पर बसी तीन लोक से न्यारी काशी में गंगा के घाट पर सुबह–सवेरे शहनाई के सुर बिखरने वाले उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ का जन्म २१ मार्च, १९१६ को ग्राम डुमराँव, जिला भोजपुर, बिहार में हुआ था। बचपन में इनका नाम कमरुद्दीन था। इनके पिता पैगम्बर बख्श भी संगीत के साधक थे। वे डुमराँव के रजवाड़ों के खानदानी शहनाईवादक थे। इसलिए कमरुद्दीन का बचपन शहनाई की मधुर तान सुनते हुए ही बीता।

जब कमरुद्दीन केवल चार वर्ष के ही थे, तो इनकी माता मिट्ठन का देहान्त हो गया। इस पर वे अपने मामा अल्लाबख्श के साथ काशी आ गये और फिर सदा–सदा के लिए काशी के ही होकर रह गये। उनके मामा विश्वनाथ मन्दिर में शहनाई बजाते थे। धीरे–धीरे बिस्मिल्ला भी उनका साथ देने लगे। काशी के विशाल घाटों पर मन्द–मन्द बहती हुई गंगा की निर्मल धारा के सम्मुख शहनाई बजाने में युवा बिस्मिल्ला को अतीव सुख मिलता था। वे घण्टों वहां बैठकर संगीत की साधना करते थे।

बिस्मिल्ला खाँ यों तो शहनाई पर प्राय: सभी प्रसिद्ध राग बजा लेते थे; पर ठुमरी, चैती और कजरी पर उनकी विशेष पकड़ थी। इन रागों को बजाते समय वे ही नहीं, तो सामने उपस्थित सभी श्रोता एक अद्भुत तरंग में डूब जाते थे। जब बिस्मिल्ला खाँ अपना कार्यक्रम समाप्त करते, तो सब होश में आते थे। १५ अगस्त १९४७ को जब लालकिले पर स्वतन्त्र भारत का तिरंगा झण्डा फहराया, तो उसका स्वागत बिस्मिल्ला खाँ ने शहनाई बजाकर किया।

धीरे–धीरे उनकी ख्याति बढ़ने लगी। केवल देश ही नहीं, तो विदेशों से भी उनको निमन्त्रण मिलने लगे। बिस्मिल्ला खाँ के मन में काशी, गंगा और भगवान विश्वनाथ के प्रति अत्यधिक अनुराग था। एक बार अमरीका में बसे धनी भारतीयों ने उन्हें अमरीका में ही सपरिवार बस जाने को कहा। वे उनके लिए सब व्यवस्था करने को तैयार थे; पर बिस्मिल्ला खाँ ने स्पष्ट कहा कि इसके लिए आपको माँ गंगा और भगवान् विश्वनाथ को भी काशी से अमरीका लाना पड़ेगा। वे धनी भारतीय चुप रह गये।

बिस्मिल्ला खाँ संगीत की उन ऊँचाइयों पर पहुँच गये थे, जहाँ हर सम्मान और पुरस्कार उनके लिए छोटा पड़ता था। भारत का शायद ही कोई मान–सम्मान हो, जो उन्हें न दिया गया हो। ११ अप्रैल, १९५६ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें हिन्दुस्तानी संगीत सम्मान प्रदान किया। २७ अप्रैल, १९६१ को पद्मश्री, १६ अप्रैल, १९६८ को पद्मभूषण, २२ मई, १९८० को पद्म विभूषणं और फिर ४ मई, २००१ को राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने उन्हें सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' से सम्मानित किया।

इतनी ख्याति एवं प्रतिष्ठा पाकर भी उन्होंने सदा सादा जीवन जिया। काशी की सुहाग गली वाले घर के एक साधारण कमरे में वे सदा चारपाई पर बैठे मिलते थे। बीमार होने पर भी वे अस्पताल नहीं जाते थे। उनकी इच्छा थी कि वे दिल्ली में इण्डिया गेट पर शहनाई बजायें। शासन ने इसके लिए उन्हें आमन्त्रित भी किया; पर तब तक उनकी काया अत्यधिक जर्जर हो चुकी थी।

२१ अगस्त, २००६ को भोर होने से पहले ही उनके प्राण पखेरु उड़ गये। देहान्त से कुछ घण्टे पहले उन्होंने अपने पुत्र एवं शिष्य नैयर हुसेन को राग अहीर भैरवी की बारीकियाँ समझायीं। इस प्रकार अन्तिम साँस तक वे संगीत की साधना में रत रहे।

❖

२३ मार्च बलिदान-दिवस

इन्कलाब जिन्दाबाद

क्रान्तिवीर भगतसिंह का जन्म २८ सितम्बर, १९०७ को ग्राम बंगा, जिला लायलपुर, पंजा़ब में हुआ था। उसके जन्म के कुछ समय पूर्व ही उसके पिता किशनसिंह और चाचा अजीतसिंह जेल से छूटे थे। अत: उसे भागों वाला अर्थात भाग्यवान् माना गया। घर में हर समय स्वाधीनता आन्दोलन की चर्चा होती रहती थी। इसका प्रभाव भगतसिंह के मन पर गहराई से पड़ा।

१३ अप्रैल १९१९ को जलियाँवाला बाग, अमृतसर में क्रूर पुलिस अधिकारी डायर ने ग़ोली चलाकर हजारों नागरिकों को मार डाला। यह सुनकर बालक भगतसिंह वहाँ गया और खून में सनी मिट्टी को एक बोतल में भर लाया। वह प्रतिदिन उसकी पूजा कर उसे माथे से लगाता था। भगतसिंह का विचार था कि धूर्त अंग्रेज अहिंसक आन्दोलन से ऩहीं भागेंगे। अत: उन्होंने आयरलैण्ड, इटली, रूस आदि के क्रान्तिकारी आन्दोलनों का गहन अध्ययन किया। वे भारत में भी ऐसा ही संगठन खड़ा करना चाहते थे। विवाह का दबाव पड़ने पर उन्होंने घर छोड़ दिया और कानपुर में स्वतन्त्रता सेनानी गणेशशंकर विद्यार्थी के समाचार पत्र 'प्रताप' में काम करने लगे।

कुछ समय बाद वे लाहौर पहुँच गये और 'नौजवान भारत सभा' बनायी। भगतसिंह ने कई स्थानों का प्रवास भी किया। इसमें उनकी भेंट चन्द्रशेखर आजाद जैसे साथियों से हुई। उन्होंने कोलकाता जाकर बम बनाना भी सीखा। १९२८ में ब्रिटेन से लार्ड साइमन के नेतृत्व में एक दल स्वतन्त्रता की स्थिति के अध्ययन के लिए भारत आ़या। लाहौर में लाला लाजपतराय के नेतृत्व में

इसके विरुद्ध बड़ा प्रदर्शन हुआ। इससे बौखलाकर पुलिस अधिकारी स्कॉट तथा साण्डर्स ने लाठीचार्ज करा दिया। वयोवृद्ध लाला जी के सिर पर इससे भारी चोट आयी और वे कुछ दिन बाद चल बसे।

इस घटना से क्रान्तिवीरों का खून खौल उठा। उन्होंने कुछ दिन बाद साण्डर्स को पुलिस कार्यालय के सामने ही गोलियों से भून दिया। पुलिस ने बहुत प्रयास किया; पर सब क्रान्तिकारी वेश बदलकर लाहौर से बाहर निकल गये। कुछ समय बाद दिल्ली में केन्द्रीय धारासभा का अधिवेशन होने वाला था। क्रान्तिवीरों ने वहाँ धमाका करने का निश्चय किया। इसके लिए भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त चुने गये। निर्धारित दिन ये दोनों बम और पर्चे लेकर दर्शक दीर्घा में जा पहुँचे। भारत विरोधी प्रस्तावों पर चर्चा शुरू होते ही दोनों ने खड़े होकर सदन मे बम फेंक दिया। उन्होंने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाते हुए पर्चे फेंके, जिन पर क्रान्तिकारी आन्दोलन का उद्देश्य लिखा था।

पुलिस ने दोनों को पकड़ लिया। न्यायालय में भगतसिंह ने जो बयान दिये, उससे सारे विश्व में उनकी प्रशंसा हुई। भगतसिंह पर साण्डर्स की हत्या का भी आरोप था। उस काण्ड में कई अन्य क्रान्तिकारी भी शामिल थे; जिनमें से सुखदेव और राजगुरू को पुलिस पकड़ चुकी थी। इन तीनों को २४ मार्च, १९३१ को फाँसी देने का आदेश जारी कर दिया गया।

भगतसिंह की फाँसी का देश भर में व्यापक विरोध हो रहा था। इससे डरकर धूर्त अंग्रेजों ने एक दिन पूर्व २३ मार्च की शाम को इन्हें फाँसी दे दी और इनके शवों को परिवारजनों की अनुपस्थिति में जला दिया; पर इस बलिदान ने देश में क्रान्ति की ज्वाला को और धधका दिया। उनका नारा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' आज भी सभा–सम्मेलनों में ऊर्जा का सञ्चार कर देता है।

❖

२३ मार्च जन्म-दिवस

कृष्ण प्रेम में दीवानी मीराबाई

भारत का राजस्थान प्रान्त वीरों की खान कहा जाता है; पर इस भूमि को श्रीकृष्ण के प्रेम में अपना तन–मन और राजमहलों के सुखों को ठोकर मारने वाली मीराबाई ने भी अपनी चरण रज से पवित्र किया है। हिन्दी साहित्य में रसपूर्ण भजनों को जन्म देने का श्रेय मीरा को ही है। साधुओं की संगत और एकतारा बजाते हुए भजन गाना ही उनकी साधना थी। मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई..गाकर मीरा ने स्वयं को अमर कर लिया।

मीरा का जन्म मेड़ता के राव रत्नसिंह के घर २३ मार्च १४९८ को हुआ था। जब मीरा तीन साल की थी, तब उनके पिता का और दस साल की होने पर माता का देहान्त हो गया। जब मीरा बहुत छोटी थी, तो एक विवाह के अवसर पर उसने अपनी माँ से पूछा कि मेरा पति कौन है ? माता ने हँसी में श्रीकृष्ण की प्रतिमा की ओर इशारा कर कहा कि यही तेरे पति हैं। भोली मीरा ने इसे ही सच मानकर श्रीकृष्ण को अपने मन–मन्दिर में बैठा लिया।

माता और पिता की छत्रछाया सिर पर से उठ जाने के बाद मीरा अपने दादा राव दूदाजी के पास रहने लगीं। उनकी आयु की बालिकाएँ जब खेलती थीं, तब मीरा श्रीकृष्ण की प्रतिमा के सम्मुख बैठी उनसे बात करती रहती थी। कुछ समय बाद उसके दादा जी भी स्वर्गवासी हो गये। अब राव वीरमदेव गद्दी पर बैठे। उन्होंने मीरा का विवाह चित्तौड़ के प्रतापी राजा राणा साँगा के बड़े पुत्र भोजराज से कर दिया। इस प्रकार मीरा ससुराल आ गयी; पर अपने साथ वह अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की प्रतिमा लाना नहीं भूली।

मीरा की श्रीकृष्ण भक्ति और वैवाहिक जीवन सुखपूर्वक बीत रहा था। राजा भोज भी प्रसन्न थे; पर दुर्भाग्यवश विवाह के दस साल बाद राजा भोजराज का देहान्त हो गया। अब तो मीरा पूरी तरह श्रीकृष्ण को समर्पित हो गयीं। उनकी भक्ति की चर्चा सर्वत्र फैल गयी। दूर–दूर से लोग उनके दर्शन को आने लगे। पैरों में घुँघरू बाँध कर नाचते हुए मीरा प्रायः अपनी सुधबुध खो देती थीं।

मीरा की सास, ननद और राणा विक्रमाजीत को यह पसन्द नहीं था। राज–परिवार की पुत्रवधू इस प्रकार बेसुध होकर आम लोगों के बीच नाचे और गाये, यह उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। उन्होंने मीरा को समझाने का प्रयास किया; पर वह तो सांसारिक मान–सम्मान से ऊपर उठ चुकी थीं। उनकी गतिविधियों में कोई अन्तर नहीं आया। अन्ततः राणा ने उनके लिए विष का प्याला श्रीकृष्ण का प्रसाद कह कर भेजा। मीरा ने उसे पी लिया; पर सब हैरान रह गये, जब उसका मीरा पर कुछ असर नहीं हुआ।

राणा का क्रोध और बढ़ गया। उन्होंने एक काला नाग पिटारी में रखकर मीरा के पास भेजा; पर वह नाग भी फूलों की माला बन गया। अब मीरा समझ गयी कि उन्हें मेवाड़ छोड़ देना चाहिए। अतः वह पहले मथुरा–वृन्दावन और फिर द्वारका आ गयीं। इसके बाद चित्तौड़ पर अनेक विपत्तियाँ आयीं। राणा के हाथ से राजपाट निकल गया और युद्ध में उनकी मृत्यु हो गयी।

यह देखकर मेवाड़ के लोग उन्हें वापस लाने के लिए द्वारका गये। मीरा आना तो नहीं चाहती थी; पर जनता का आग्रह वे टाल नहीं सकीं। वे विदा लेने के लिए रणछोड़ मन्दिर में गयीं; पर पूजा में वे इतनी तल्लीन हो गयीं कि वहीं उनका शरीर छूट गया। इस प्रकार १५७३ ई० में द्वारका में ही श्रीकृष्ण की दीवानी मीरा ने अपनी देहलीला समाप्त की।

❖

२४ मार्च

बलिदान-दिवस

पाञ्चाल क्षेत्र में क्रान्ति के सञ्चालक नवाब खान

उत्तर प्रदेश में बरेली और उसका निकटवर्ती क्षेत्र पाञ्चाल क्षेत्र कहलाता है। जन मान्यता यह है कि महाभारत काल में पाञ्चाली का स्वयंवर इसी क्षेत्र में हुआ था। आगे चलकर विदेशी मुस्लिम रुहेलों ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, इससे यह क्षेत्र रुहेलखण्ड भी कहलाया।

जब १८५७ की क्रान्ति का बिगुल बजा, तो यहाँ के नवाब खान बहादुर ने नाना साहब पेशवा की योजना से निर्धारित दिन ३१ मई को ही इस क्षेत्र को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त करा लिया। रुहेले सरदार हाफिज रहमत खान के वंशज होने के कारण इनका पूरे क्षेत्र में बहुत दबदबा था। इसलिए अंग्रेजों ने उन्हें मानद न्यायाधीश (नेटिव जज) बना दिया। रुहेले सरदार के वंशज और जज होने के कारण उन्हें दुगनी पेंशन मिलती थी।

खान बहादुर पर एक ओर अंग्रेजों को पूरा विश्वास था, तो दूसरी ओर वे गुप्त रूप से क्रान्ति की सभी योजनाओं में सहभागी थे। उस समय बरेली में आठवीं घुड़सवार, १८वीं तथा ६८वीं पैदल रेजिमेण्ट के साथ तोपखाने की एक इकाई भी तैनात थी। जब १० मई को मेरठ से विद्रोह शुरू हुआ, तो खान बहादुर ने सैनिकों को ३१ मई तक शान्त रहने को कहा। उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों को यह विश्वास दिला दिया कि ये सैनिक कुछ नहीं करेंगे। ३१ मई को रविवार होने के कारण अधिकांश अंग्रेज चर्च गये थे।

जैसे ही ११ बजे तोप से गोला छोड़ा गया, सैनिकों ने अंग्रेजों पर हमला

बोल दिया। चुन–चुनकर उन्हें मारा जाने लगा। अनेक अंग्रेज जान बचाने के लिए नैनीताल भाग गये। शाम तक पूरा बरेली शहर मुक्त हो गया। इसी दिन शाहजहाँपुर और मुरादाबाद में तैनात २९वीं रेजिमेण्ट ने भी क्रान्ति कर पूरे पाञ्चाल क्षेत्र को एक ही दिन में मुक्त करा लिया।

खान बहादुर ने स्वदेशी शासन स्थापित करने के लिए सेनापति बख्त खान के नेतृत्व में १६,००० सैनिकों को क्रान्तिकारियों का सहयोग करने के लिए दिल्ली भेजा। राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिए ५,००० अश्वारोही तथा २५,००० पैदल सैनिक भी भर्ती किये। दस माह तक पाञ्चाल क्षेत्र में शान्ति बनी रही। इनकी शक्ति देखकर अंग्रेजों की इस ओर आने की हिम्मत नहीं पड़ी। फरवरी १८५८ में लखनऊ तथा कानपुर अंग्रेजों के अधीन हो गये। यह देखकर २५ मार्च को नाना साहब बरेली आ गये।

इसके बाद अंग्रेजों ने इस क्षेत्र पर फिर कब्जा करने का प्रयास आरम्भ किया। प्रधान सेनापति कैम्पबेल ने चारों ओर से हमला करने की योजना बनायी। पहले आक्रमण में अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी। उसका एक प्रमुख नायक जनरल पेनी भी मारा गया; पर क्रान्तिवीरों की शक्ति बँटी हुई थी। यह देखकर खान बहादुर ने पूरी सेना को बरेली बुला लिया। ५ मई, १८५८ को नकटिया नदी के पास इस देशभक्त सेना ने अंग्रेजों पर धावा बोला। दो दिन के संघर्ष में अंग्रेजों की भारी पराजय हुई।

दूसरे दिन फिर संघर्ष हुआ; पर उसी समय मुरादाबाद से अंग्रेज सैनिकों की एक टुकड़ी और आ गयी। इससे पासा पलट गया और ६ मई, १८५८ को बरेली पर अंग्रेजों का फिर से अधिकार हो गया। खान बहादुर और कई प्रमुख क्रान्तिकारी पीलीभीत चले गये। वहाँ से वे लखनऊ आये और फिर बेगम हजरत महल के साथ नेपाल चले गये; पर वहाँ राणा जंगबहादुर ने उन्हें पकड़वा दिया। अंग्रेज शासन ने उन पर बरेली में मुकदमा चलाया और २४ मार्च, १८६० को बरेली कोतवाली के द्वार पर उन्हें फाँसी दे दी गयी।

२५ मार्च बलिदान दिवस

गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म प्रयाग के अतरसुइया मौहल्ले में अपने नाना श्री सूरजप्रसाद के घर में हुआ था। इनके नाना सहायक जेलर थे। इनके पुरखे जिला फतेहपुर, उत्तर प्रदेश के हथगाँव के मूल निवासी थे; पर जीवनयापन के लिए इनके पिता श्री जयनारायण अध्यापन एवं ज्योतिष को अपनाकर जिला गुना, मध्य प्रदेश के गंगवली कस्बे में बस गये। वहीं गणेशशंकर को स्थानीय एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल में भर्ती करा दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ से लेने के बाद गणेश ने अपने बड़े भाई के पास कानपुर आकर हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने प्रयाग में इण्टर में प्रवेश लिया। उसी दौरान उनका विवाह हो गया, जिससे पढ़ाई खण्डित हो गयी; लेकिन तब तक उन्हें लेखन एवं पत्रकारिता का शौक लग गया था, जो अन्त तक जारी रहा। विवाह के बाद घर चलाने के लिए धन की आवश्यकता थी, अत: वे फिर कानपुर भाईसाहब के पास आ गये।

१९०८ यहाँ उन्हें कानपुर में एक बैंक में ३० रु० महीने की नौकरी मिल गयी। एक साल बाद उसे छोड़कर विद्यार्थी जी पी.पी.एन.हाईस्कूल में अध्यापन कार्य करने लगे। यहाँ भी अधिक समय तक उनका मन नहीं लगा। वे इसे छोड़कर प्रयाग आ गये और वहाँ 'सरस्वती' एवं 'अभ्युदय' नामक पत्रों के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया; पर यहाँ उनके स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। अत: वे फिर कानपुर लौट गये और १९ नवम्बर, १९१८ से कानपुर से साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

प्रताप समाचार पत्र के कार्य में विद्यार्थी जी ने स्वयं को खपा दिया। वे उसके संयोजन, छपाई से लेकर वितरण तक के कार्य में स्वयं लगे रहते थे। पत्र में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भरपूर सामग्री होती थी। अत: दिन—प्रतिदिन प्रताप की लोकप्रियता बढ़ने लगी। दूसरी ओर वह अंग्रेज शासकों की निगाह में भी खटकने लगा। १९२० में विद्यार्थी जी ने प्रताप को साप्ताहिक के बदले दैनिक कर दिया। इससे प्रशासन बौखला गया। उसने विद्यार्थी जी को झूठे मुकदमों में फँसाकर जेल भेज दिया और भारी जुर्माना लगाकर उसका भुगतान करने को विवश किया।

इतनी बाधाओं के बावजूद भी विद्यार्थी जी का साहस कम नहीं हुआ। उनका स्वर प्रखर से प्रखरतम होता चला गया। कांग्रेस की ओर से स्वाधीनता के लिए जो भी कार्यक्रम दिये जाते थे, विद्यार्थी जी उसमें बढ़—चढ़कर भाग लेते थे। इतना ही नहीं, वे क्रान्तिकारियों की भी हर प्रकार से सहायता करते थे। उनके लिए रोटी और गोली से लेकर उनके परिवारों के भरणपोषण की भी चिन्ता वे करते थे। क्रान्तिवीर भगतसिंह ने भी कुछ समय तक विद्यार्थी जी के समाचार पत्र 'प्रताप' में काम किया था।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में शुरू में तो मुसलमानों ने अच्छा सहयोग दिया; पर फिर उनका स्वर बदलकर उग्र होने लगे। पाकिस्तान की माँग जोर पकड़ रही थी। विद्यार्थी जी का मन इससे बहुत दुखी हुआ। इसी दौरान कानपुर में मुसलमानों ने भयानक दंगा किया। विद्यार्थी जी अपने जीवन भर की तपस्या को भंग होते देख बौखला गये। वे सीना खोलकर दंगाइयों के आगे कूद पड़े।

दंगाई तो मरने—मारने पर उतारू ही थे। उन्होंने विद्यार्थी जी के टुकड़े—टुकड़े कर दिये। यहाँ तक की उनकी साबुत लाश भी नहीं मिली। केवल एक बाँह मिली, जिस पर लिखे नाम से उनकी पहचान हुई। वह २५ मार्च, १९३१ का दिन था, जब धर्मान्धता की बलिवेदी पर भारत माँ के सच्चे सपूत, पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान हुआ।

❖

२६ मार्च जन्म-दिवस

मनीषी चिन्तक : कुबेरनाथ राय

ललित निबन्ध हिन्दी साहित्य की एक अनुपम विधा है। इसमें किसी विषय को लेखक अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर आगे बढ़ाता है। इन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो पाठक नदी के प्रवाह में बिना प्रयास स्वयमेव बह रहा हो। गद्य को पढ़ते हुए पद्य जैसे आनन्द की अनुभूति होती है। अच्छे ललित निबन्ध को एक बार पढ़ना प्रारम्भ करने के बाद समाप्त किये बिना उठने की इच्छा नहीं होती। हिन्दी साहित्य में अनेक ललित निबन्धकार हुए हैं। इनमें श्री कुबेरनाथ राय का अप्रतिम स्थान है।

श्री कुबेरनाथ का साहित्यिक व्यक्तित्व एक ऐसा विशाल वट वृक्ष है, जिसकी दूर–दूर तक फैली जड़ें भारत के वैष्णव साहित्य, श्रीराम कथा और गान्धी चिन्तन से जीवन रस ग्रहण करती हैं। भारतीयता पर दृढ़तापूर्वक खड़े होकर भी उनका चिन्तन सम्पूर्ण विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रेमपूर्ण बन्धन में बाँधने को तत्पर दिखाई देता है। हिन्दी ललित निबन्ध को उन्होंने एक नया आयाम दिया, जिससे पाठक के मन को भी भव्यता प्राप्त होती है।

श्री कुबेरनाथ राय का जन्म २६ मार्च, १९३३ को मतसा (गाजीपुर, उत्तर प्रदेश) में एक सुसंस्कृत वैष्णव परिवार में हुआ था। उनके छोटे बाबा पण्डित बटुकदेव शर्मा अंग्रेजी के प्रकाण्ड विद्वान् और उच्च कोटि के पत्रकार थे। उनका संकल्प था कि गुलाम भारत में मैं सन्तान उत्पन्न नहीं करूँगा। इसलिए किशोरवस्था में ही उन्होंने घर छोड़ दिया और आजीवन अविवाहित रहकर देशसेवा की। उन्होंने देश, तरुण, भारत, प्रताप, लोक संग्रह, प्रणवीर जैसे

राष्ट्रव्यापी ख्याति प्राप्त पत्रों का सम्पादन किया। महात्मा गान्धी, डा० राजेन्द्र प्रसाद, गणेश शंकर विद्यार्थी, सहजानन्द सरस्वती, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि से उनके निकट सम्बन्ध थे।

श्री कुबेरनाथ जी पर अपने इन छोटे बाबा के व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी का श्रेष्ठ ज्ञान और राष्ट्रीयता के संस्कार उन्हें छोटे बाबा से ही मिले। कक्षा दस में पढ़ते समय ही उनकी रचनाएँ 'माधुरी' और 'विशाल भारत' जैसे विख्यात पत्रों में छपने लगी थीं। इनमें छपने के लिए तत्कालीन प्रतिष्ठित साहित्यकार भी लालायित रहते थे। स्पष्ट है कि कुबेरनाथ राय के मन में साहित्य का बीज किशोरवस्था में ही पुष्पित और पल्लवित हो चुका था।

प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण कर उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। १९५८ से ८६ तक वे असम के नलबाड़ी कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। १९८६ में उनकी नियुक्ति अपने गृह जनपद गाजीपुर में स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय में प्राचार्य के पद पर हुई। इसी पद से वे १९९५ में सेवानिवृत्त भी हुए।

उनकी प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें हैं — प्रिया नीलकण्ठी, रस आखेटक, मेघमादन, निषाद बाँसुरी, विषाद योग, पर्णमुकुट, महाकवि की तर्जनी, पत्र मणिपुतुल के नाम, मन वचन की नौका, किरात नदी में चन्द्रमधु, दृष्टि अभिसार, त्रेता का बृहत साम, कामधेनु मराल आदि। विशेष बात यह है कि श्री कुबेरनाथ ने सदा अंग्रेजी का अध्यापन किया; पर साहित्य द्वारा अपने मन की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को ही श्रेष्ठ माना।

वे भारतीय ज्ञानपीठ के प्रतिष्ठित 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' सहित अनेक सम्मानों से अलंकृत किये गये। ५ जून, १९९६ को हिन्दी के इस रससिद्ध साधक का हृदयगति रुकने से देहान्त हो गया।

❖

२७ मार्च बलिदान-दिवस

क्रान्तिवीर काशीराम जिन्हें डाकू समझा गया

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में अनेक ऐसे वीरों ने भी बलिदान दिया, जिन्हें गलत समझा गया। १९८१ में ग्राम बड़ी मढ़ौली (अम्बाला, पंजाब) में पण्डित गंगाराम के घर में जन्मे काशीराम ऐसे ही क्रान्तिवीर थे, जिन्हें डाकू समझ कर अपने देशवासियों ने ही मार डाला।

शिक्षा पूरी कर काशीराम ने भारत में एक–दो छोटी नौकरियाँ कीं और फिर हांगकांग होते हुए अमरीका जाकर बारूद के कारखाने में काम करने लगे। कुछ दिन बाद उन्होंने एक टापू पर सोने की खान का ठेका लिया और बहुत पैसा कमाया। जब उनके मन में छिपे देशप्रेम ने जोर मारा, तो वे भारत आ गये। वे अपने गाँव थोड़ी देर के लिए ही रुके और फिर यह कहकर चल दिये कि लाहौर नेशनल बैंक में मेरे ३०,००० रु० जमा हैं, उन्हें लेने जा रहा हूँ। इसके बाद वे अपने गाँव लौट कर नहीं आये।

विदेश में रहते हुए ही उनका सम्पर्क भारत के क्रान्तिकारियों से हो गया था। पंजाब में जिस दल के साथ वे काम करते थे, उसे हथियार खरीदने के लिए पैसे की आवश्यकता थी। सबने निश्चय किया कि मोगा के सरकारी खजाने को लूटा जाये। योजना बन गयी और २७ नवम्बर, १९१४ को दिन के एक बजे १५ नवयुवक तीन इक्कों में सवार होकर फिरोजपुर की ओर चल दिये।

रास्ते मे मिश्रीवाला गाँव पड़ता था। वहाँ थानेदार बशारत अली तथा

जेलदार ज्वालसिंह कुछ सिपाहियों के साथ पुलिस अधीक्षक की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब उन्होंने तीन इक्कों पर सवार अलमस्त युवकों को देखा, तो उन्हें रुकने को कहा। जब वे नहीं रुके, तो थानेदार ने एक पुलिसकर्मी को इनके पास भेजा। इस पर वे सब लौटे और बताया कि हम सरकारी कर्मचारी हैं और सेना में रंगरूटों की भर्ती के लिए मोगा जा रहे हैं।

थानेदार ने उन्हें रोक लिया और कहा कि पुलिस अधीक्षक महोदय के आने के बाद ही तुम लोग जा सकते हो। इन नवयुवकों को इतना धैर्य कहाँ था। उनमें से एक जगतसिंह ने पिस्तौल निकाल कर थानेदार और जेलदार दोनों को ढेर कर दिया। बाकी पुलिसकर्मी भागकर गाँव में छिप गये और शोर मचा दिया कि गाँव में डाकुओं ने हमला बोल दिया है।

गोलियों और डाकुओं का शोर सुनकर मिश्रीवाला गाँव के लोग बाहर निकल आये। थोड़ी ही देर में सैकड़ों लोग एकत्र हो गये। उनमें से अधिकांश के पास बन्दूकें, फरसे और भाले जैसे हथियार भी थे। अब तो क्रान्तिवीरों की जान पर बन आयी। उन्होंने भागना ही उचित समझा। छह युवक 'ओगाकी' गाँव की ओर भागे और शेष नौ वहीं नहर के आसपास सरकण्डों के पीछे छिप गये।

अब गाँव वाले सरकण्डों के झुण्ड में गोलियाँ चलाने लगे। पुलिस वाले भी उनका साथ दे रहे थे। एक युवक मारा गया। यह देखकर सभी क्रान्तिकारी बाहर आ गये। उन्होंने चिल्लाकर अपनी बात कहनी चाही; पर गाँव वालों की सहायता से पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया। फिरोजपुर के सेशन न्यायालय में मुकदमा चला और १३ फरवरी, १९१५ के निर्णय के अनुसार सात लोगों को फाँसी का दण्ड दिया गया। वीर काशीराम भी उनमें से एक थे।

उनकी सारी चल–अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। इन सबको तीन समूहों में २५, २६ और २७ मार्च, १९१५ को फाँसी दे दी गयी। काशीराम को फाँसी २७ मार्च को हुई। यह उनका दुर्भाग्य था कि उन्हें डाकू समझा गया, जबकि वे आजादी के लिए ही बलिदान हुए थे।

❖

२८ मार्च पुण्य-तिथि

समग्र मानवता के धर्माचार्य आचार्य आनन्दऋषि

जैन पन्थ में बहुत कठिन साधना, स्वाध्याय एवं तप के बाद आचार्य जैसे गरिमापूर्ण पद पर कोई प्रतिष्ठित हो पाता है। आचार्य आनन्दऋषि ऐसे ही एक महामानव थे, जिनके उपदेश सम्पूर्ण मानवता के लिए मार्गदर्शक हैं। आचार्य जी का जन्म गाँव चिंचोड़ी (अहमदनगर, महाराष्ट्र) में २६ जुलाई, १९०० को माँ हुलसाबाई तथा पिता सेठ देवीचन्द गुगालिया के घर में हुआ था। इनका नाम नेमीचन्द रखा गया। जिस समय सब बच्चे गली–मोहल्ले में खेल में मस्त रहते थे; तब वे धर्मग्रन्थों के अध्ययन में जुटे रहते थे। अभिभावक इससे चिन्तित होते थे; पर उनके शरीर के कुछ चिह्नों को देखकर विद्वानों का मत था कि आगे चलकर वे महान् सन्त बनेंगे।

१३ वर्ष की अवस्था में नेमीचन्द ने सात दिसम्बर १९१३ को अहमदनगर के ही मिरी गाँव में श्री रत्नऋषि से दीक्षा ले ली। अब इनका नाम आनन्दऋषि हो गया। इसके बाद आगामी ३० वर्ष तक वे श्रमण संघ के अनुशास्ता रहे। उन्हें स्वाध्याय के प्रति बहुत अनुराग था। वे प्रतिदिन घण्टों तक आगमवाणी का अध्ययन करते। यहाँ तक कि स्वाध्याय पूरा किये बिना वे भोजन भी नहीं करते थे। इस गहन अध्ययन का ही परिणाम यह हुआ कि हजारों धर्मग्रन्थ उनको कण्ठस्थ हो गये। स्मरण शक्ति के बल पर जब वे प्रवचन में उनके सटीक उद्धरण देते थे, जो श्रोता आश्चर्यचकित रह जाते थे।

आचार्य जी का हस्तलेख भी मोतियों के समान सुन्दर था। उन्हें पढ़ाने का भी बहुत शौक था। ग्रन्थों को अपने सरल शब्दों में नये साधकों को समझाने में उन्हें बहुत आनन्द आता था। अच्छी स्मरण शक्ति के बावजूद वे अध्यापक की भाँति पढ़ाने से पहले एक बार ग्रन्थ को फिर से देख लेते थे। इतना ही नहीं, वे पढ़ाते समय साथ में शब्दकोश आदि भी रखते थे और उसमें से एक शब्द के प्रयोगानुसार अनेक अर्थ बताकर साधकों की जिज्ञासा का समाधान करते थे। इससे साधकों को भी बहुत सन्तुष्टि एवं आनन्द प्राप्त होता था।

दिनांक १३ मार्च, १९६४ को अजमेर में आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इसके बाद उन्हें श्रमण संघ के प्रशासनिक कार्यों की ओर भी ध्यान देना पड़ा। वे अनुशासन के मामले में बड़े कठोर थे; पर इसके पीछे भी व्यक्ति में सुधार की भावना रहती थी। गलती ठीक होते ही उनके मन और वाणी से प्रेम का झरना फूट पड़ता था। इस कारण सबके मन में उनके प्रति सदा आदरभाव बना रहता था।

आचार्यश्री के प्रवचन सरल भाषा में होते थे तथा वे बोधकथाओं द्वारा बात समझाते थे। इन प्रवचनों में सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की कामना होती थी। उन्हें श्रमण संघ के गौरव एवं प्रतिष्ठा से मोह था, पर पद से नहीं, अत: एक बार उन्होंने आचार्य पद छोड़ कर महामन्त्री का कार्य करना स्वीकार किया। शिक्षा, परीक्षा, दीक्षा और फिर भिक्षा का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए वे साधकों को लौकिक शिक्षा पूरी करने का भी आग्रह करते थे।

प्राचीन साहित्य के संरक्षण और नवीन साहित्य के निर्माण के प्रति उनका बहुत आग्रह था। उनकी प्रेरणा से अनेक ज्ञान भण्डार स्थापित किये गये। २९ नवम्बर, १९८९ को उनका दीक्षा अमृत महोत्सव मनाया गया और उन्हें 'राष्ट्रसन्त' की उपाधि दी गयी। २८ मार्च, १९९२ को अहमदनगर में ही उनका देहान्त हुआ। साहित्य के प्रति उनके प्रेम को देखते हुए उनकी स्मृति में अनेक साहित्यकारों को प्रतिवर्ष सम्मानित किया जाता है।

❖

२६ मार्च · पुण्य-तिथि

सेवा और समर्पण के अनुपम साधक गुरु अंगददेव

सिख पन्थ के दूसरे गुरु अंगददेव का असली नाम 'लहणा' था। उनकी वाणी में जीवों पर दया, अहंकार का त्याग, मनुष्य मात्र से प्रेम, रोटी की चिन्ता छोड़कर परमात्मा की सुध लेने की बात कही गयी है। वे उन सब परीक्षाओं में सफल रहे, जिनमें गुरु नानक के पुत्र और अन्य दावेदार विफल हो गये थे।

गुरु नानक ने उनकी पहली परीक्षा कीचड़ से लथपथ घास की गठरी सिर पर रखवा कर ली। फिर गुरु जी ने उन्हें धर्मशाला से मरी हुई चुहिया उठाकर बाहर फेंकने को कहा। उस समय इस प्रकार का काम शूद्रों का माना जाता था। तीसरी बार मैले के ढेर में से कटोरा निकालने को कहा। गुरु नानक के दोनों पुत्र इस कार्य को करने के लिए तैयार नहीं हुए।

इसी तरह गुरु जी ने लहणा को सर्दी की रात में धर्मशाला की टूटी दीवार बनाने को कहा। वर्षा और तेज हवा के बावजूद उन्होंने दीवार बना दी। गुरु जी ने एक बार उन्हें रात को कपड़े धोने को कहा, तो घोर सर्दी में रावी नदी पर जाकर उन्होंने कपड़े धो डाले। एक बार उन्हें शमशान में मुर्दा खाने को कहा, तो वे तैयार हो गये। इस पर गुरु जी ने उन्हें गले लगा कर कहा – आज से तुम मेरे अंग हुए। तभी से उनका नाम अंगददेव हो गया।

गुरु अंगददेव का जन्म मुक्तसर, पंजाब में 'मत्ते दी सराँ' नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता का नाम फेरुमल और माता का दयाकौरि था। फेरुमल

फ़ारसी और बही खातों के विद्वान थे। कुछ वर्ष फिरोजपुर के हाकिम के पास नौकरी के बाद उन्होंने अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया। १५ वर्ष की अवस्था में लहणा का विवाह संघर (खडूर) के साहूकार देवीचन्द की पुत्री बीबी खीबी से हुआ। उनके परिवार में दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं।

बाबा फेरुमल हर वर्ष जत्था लेकर वैष्णो देवी जाते थे। कई बार लहणा भी उनके साथ गये। सन् १५२६ में पिता की मृत्यु के बाद दुकान का भार पूरी तरह लहणा पर आ गया। अध्यात्म के प्रति रुचि होने के कारण एक दिन लहणा ने भाई जोधा के मुख से गुरु नानक की वाणी सुनी। वे इससे बहुत प्रभावित हुए। उनके मन में गुरु नानक के दर्शन की प्यास जाग गयी। वे करतारपुर जाकर गुरु जी से मिले। इस भेंट से उनका जीवन बदल गया।

सात वर्ष तक गुरु नानक के साथ रहने के बाद उन्होंने गुरु गद्दी सँभाली। वे इस पर सितम्बर, १५३९ से मार्च, १५५२ तक आसीन रहे। उन्होंने खडूर साहिब को धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया। सिख पन्थ के इतिहास में गुरु अंगददेव का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गुरु नानक की वाणी और उनकी जीवनी को लिखा। उन दिनों हिन्दुओं में ऊँच–नीच, छुआछूत और जाति–पाँति के भेद अत्यधिक थे। गुरु अंगददेव ने लंगर की प्रथा चलाई, जिसमें सब एक साथ पंक्ति में बैठकर भोजन करते हैं।

पश्चिम से होने वाले मुस्लिम आक्रमणों का पहला वार पंजाब को ही झेलना पड़ता था। इनसे टक्कर लेने के लिए गुरु अंगददेव में गाँव–गाँव में अखाड़े खोलकर युवकों की टोलियाँ तैयार कीं। उन्होंने गुरुमुखी लिपि का निर्माण कर पंजाबी भाषा को समृद्ध किया। बाबा अमरदास को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी बनाया, जिन्होंने उनकी वाणी को भी श्री गुरु ग्रन्थ साहब के लिए लिपिबद्ध किया। सेवा और समर्पण के अनुपम साधक गुरु अंगददेव २९ मार्च, १५५२ को इस दुनिया से प्रयाण कर गये।

❖

२६ मार्च — जन्म-दिवस

नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर भवानी प्रसाद मिश्र

साहित्य के क्षेत्र में कविता की विधा सबसे प्राचीन है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर सूर, कबीर और तुलसीदास जैसे सन्तों ने अपने काव्यों के आधार पर ही इतिहास में अनुपम स्थान बनाया है। आज भी साहित्य की सबसे प्रबल एवं प्रचलित विधा काव्य ही है, चूँकि इसमें कम शब्दों में बड़ी बात कही जा सकती है। काव्य को अनुशासित रखने के लिए व्याकरण के आचार्यों ने छन्द शास्त्र का विधान किया है। प्राय: कवि इस छन्दानुशासन को मानते हैं; पर गत शताब्दी में अनेक कवियों ने इससे बाहर जाकर कविताएँ लिखीं। उनका मत था कि कविता में छन्द नहीं, भाव प्रधान है। इस विधा को 'नयी कविता' कहा गया। आज भी बड़ी संख्या में कवि इसी प्रकार काव्य रचना कर रहे हैं।

नयी कविता में जिन लोगों ने देश भर में ख्याति प्राप्त की, उनमें श्री भवानी प्रसाद मिश्र का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे 'भवानी भाई' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। उनका जन्म २९ मार्च, १९१३ को ग्राम टिकोरेया (होशंगाबाद, मध्य प्रदेश) में हुआ था। काव्य रचना की ओर उनका रुझान बचपन से था। १९३० से तो वे स्थानीय मञ्चों पर काव्य पाठ करने लगे; पर उन्हें प्रसिद्धि और उनकी कविता को धार जबलपुर में आकर मिली।

१९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। वे लगभग पौने तीन साल जेल में रहे। कारावास में उनका सम्पर्क मध्य

प्रदेश के स्वाधीनता सेनानियों से हुआ। जेल से छूटने के बाद १९४६ में वे वर्धा के महिलाश्रम में शिक्षक हो गये। इसके बाद कुछ समय उन्होंने दक्षिण में 'राष्ट्रभाषा प्रचार सभा' का कार्य किया। फिर वे भाग्यनगर (हैदराबाद) से निकलने वाली प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका 'कल्पना' में सम्पादक हो गये।

काव्य और लेखन में प्रसिद्ध होने के बाद उनका रुझान फिल्म लेखन की ओर हुआ; क्योंकि इससे बहुत जल्दी धन और प्रसिद्धि मिलती है। तीन वर्ष हैदराबाद में रहने के बाद वे मुम्बई और फिर चेन्नई गये, जहाँ उन्होंने फिल्मों में संवाद लेखन का कार्य किया; पर इसमें उन्हें बहुत यश नहीं मिला, अत: वे आकाशवाणी से जुड़ गये। १९७५ से पूर्व हुए आन्दोलन के समय उन्होंने बीमार होते हुए भी जयप्रकाश जी की कई सभाओं में भाग लिया।

'तार सप्तक' के कवियों में से एक भवानी भाई के काव्य में शब्दों की सरलता और प्रवाह का अद्भुत सामञ्जस्य देखने को मिलता है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ हैं –

जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख
और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।।

नर्मदा, विन्ध्याचल और सतपुड़ा से उन्हें बहुत स्नेह था। इस कारण प्रकृति की छाया उनकी रचनाओं में सर्वत्र दिखायी देती है। भावुक स्वभाव के होने के कारण उनके काव्य में सबको अपने निजी दर्द का अनुभव होता था। उन्होंने १२ काव्य संग्रहों का सृजन किया, जिसमें गीत फरोश, चकित है दुख, अंधेरी कविताएँ, गान्धी पञ्चशती, बुनी हुई रस्सी, खुशबू के शिलालेख, परिवर्तन के लिए, त्रिकाल सन्ध्या, अनाम तुम आते हो...आदि प्रमुख हैं।

हृदय रोग से पीड़ित होने के बाद भी उनकी सक्रियता कम नहीं हुई। कई वर्ष तक वे 'पेसमेकर' के सहारे काम चलाते रहे; पर २० फरवरी, १९८५ को अपने गृहनगर नरसिंहपुर में अपने पैतृक घर में ही भीषण हृदयाघात से उनका देहान्त हो गया।

३० मार्च जन्म-दिवस

आदर्श कार्यकर्त्ता : अप्पा जी जोशी

एक बार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा० हेडगेवार ने कार्यकर्त्ता बैठक में कहा कि क्या केवल संघकार्य किसी के जीवन का ध्येय नहीं बन सकता ? यह सुनकर हरिकृष्ण जोशी ने उन ५६ संस्थाओं से त्यागपत्र दे दिया, जिनसे वे सम्बद्ध थे। यही बाद में अप्पा जी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

३० मार्च, १८९७ को वर्धा में जन्मे अप्पा जी ने क्रान्तिकारियों के साथ काम किया, कांग्रेस में रहकर देखा। कांग्रेस के कोषाध्यक्ष जमनालाल बजाज के वे निकट सहयोगी थे; पर डा० हेडगेवार के सम्पर्क में आने पर उन्होंने बाकी सबको छोड़ दिया। डा० हेडगेवार, श्री गुरुजी और बालासाहब देवरस, इन तीनों सरसंघचालकों के दायित्वग्रहण के समय वे उपस्थित थे।

उनका बचपन बहुत गरीबी में बीता। इनके पिता एक वकील के पास मुंशी थे। इनके १२ वर्ष की अवस्था में पहुँचते तक पिताजी, चाचाजी और तीन भाई दिवंगत हो गये। ऐसे में बड़ी कठिनाई से इन्होंने कक्षा दस तक पढ़ाई की। १९०५ में बंग–भंग आन्दोलन से प्रभावित होकर वह स्वातन्त्र्य समर में कूद गये। १९०६ में लोकमान्य तिलक के दर्शन हेतु जब वे विद्यालय छोड़कर रेलवे स्टेशन गये, तो अगले दिन अध्यापक ने उन्हें बहुत मारा; पर इससे उनके अन्तःकरण में देशप्रेम की ज्वाला और धधक उठी।

१४ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया और ये भी एक वकील के पास मुंशी बन गये; पर सामाजिक कार्यों के प्रति इनकी सक्रियता बनी रही। वे नियमित अखाड़े में जाते थे। वहीं इनका सम्पर्क संघ के स्वयंसेवक

श्री अण्णा सोहनी और उनके माध्यम से डा० हेडगेवार से हुआ। डा० जी देश भर में क्रान्तिकारियों को विभिन्न प्रकार की सहायता सामग्री भेजते थे, उसमें अप्पा जी उनके विश्वस्त सहयोगी बन गये। कई बार तो उन्होंने स्त्री वेष धारणकर यह कार्य किया।

दिन–रात कांग्रेस के लिए काम करने से इनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। यह देखकर कांग्रेस के कोषाध्यक्ष जमनालाल बजाज ने इन्हें कांग्रेस के कोष से वेतन देना चाहा; पर इन्होंने मना कर दिया। १९४७ के बाद जहाँ अन्य कांग्रेसियों ने ताम्रपत्र और पेंशन ली, वहीं अप्पा जी ने यह स्वीकार नहीं किया। आपातकाल में वे मीसा में बन्द रहे; पर उससे भी उन्होंने कुछ लाभ नहीं लिया। वे देशसेवा की कीमत वसूलने को पाप मानते थे।

एक बार कांग्रेस के काम से अप्पा जी नागपुर आये। तब डा० हेडगेवार के घर में ही बैठक के रूप में शाखा लगती थी। अप्पा जी ने उसे देखा और वापस आकर १८ फरवरी १९२६ को वर्धा में शाखा प्रारम्भ कर दी। यह नागपुर के बाहर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पहली शाखा थी। डा० जी ने उन्हें वर्धा जिला संघचालक का दायित्व दिया।

नवम्बर, १९२९ में नागपुर में प्रमुख कार्यकर्त्ताओं की एक बैठक में सबसे परामर्श कर अप्पा जी ने निर्णय लिया कि डा० हेडगेवार संघ के सरसंघचालक होने चाहिए। १० नवम्बर शाम को जब सब संघस्थान पर आये, तो अप्पा जी ने सबको दक्ष देकर सरसंघचालक प्रणाम १, २, ३ की आज्ञा दी। सबके साथ डा० जी ने भी प्रणाम किया। इसके बाद अप्पा जी ने घोषित किया कि आज से डा० जी सरसंघचालक बन गये हैं।

१९३४ में गान्धी जी को वर्धा के संघ शिविर में अप्पा जी ही लाये थे। १९४६ में वे सरकार्यवाह बने। अन्त समय तक सक्रिय रहते हुए २१ दिसम्बर, १९७९ को अप्पा जी जोशी का देहान्त हुआ।

❖

ISBN 978-81-89606-28-2